

नाहि तो जनम नसाई

दिसंबर 1992 जैसे इस देश की आत्मा पे कील की तरह चुभा है जिसने इस मुल्क का एक अनदेखा बँटवारा कर दिया। और फिर दिसंबर ही क्यों वो तो एक परिणति थी सालों से चल रहे आयोजन की। गाँव-गाँव घूमती रामशिलाएं, रामआरती, अचानक से भगवा हो उठी छतें, संतों की कर्कश हो चली संतवाणी, कारसेवकों की बहाली और प्रशिक्षण, ज़हर बुझी एक नयी भाषा का निर्माण और बहुसंख्यवाद की वैधता के तमाम विमर्श मिलते हैं तो मुल्क में अयोध्या हार जाती है। उन सालों में उठे नफरत और हिंसा के काले बादल आज भी आकाश में उमड़ घुमड़ रहे हैं। 1992 का विस्तारित उपहार है 2014 इस देश को।

यह अंक उन्हीं उदास यादों के साये में लड़ने के हौसले के साथ।

कहो अनवर

■ वसु मालवीय

बहुत दिन से
नहीं आए घर
कहो अनवर
क्या हुआ?
आ गया क्या
बीच अपने भी
छ: दिसंबर
क्या हुआ?

मैं कहाँ हिंदू
मुसलमाँ तू कहाँ था
सच मुहब्बत के सिवा क्या
दरमियाँ था
जब बनी है खीर घर में
पूछती है
माँ बराबर क्या हुआ?

आसमाँ बैठा खुदा
तेरा कहाँ था
पत्थरों का देवता
मेरा कहाँ था
जिस समय हम खेलते थे
साथ छत पर
क्यों बिरादर
क्या हुआ?

वो सिवईयाँ प्यार से
लाना टिफिन में
दस मुलाकातें हमारी
एक दिन में
और अब चुप्पी तुम्हारी
तोड़ती जाती निरंतर
क्या हुआ?

तुम्हें मस्जिद से
हमें क्या देवस्थानों से
हमें बेहद मोह था
अपने मकानों से
फोड़कर दीवार अब
उगने लगा है
कुछ परस्पर
क्या हुआ?

टूटने को बहुत कुछ
टूटा बचा क्या
छा गई है देश के ऊपर
अयोध्या
हो गए तलवार अक्षर
धर्मग्रंथों से निकलकर
क्या हुआ?

बहुत दिन से नहीं आए घर
कहो अनवर!!!

क्रमशः जारी

ताल तालाब में पानी आता है, पानी जाता है। इस आवक-जावक का पूरे तालाब पर असर पड़ता है। वर्षा की तेज बूंदों से आगौर की मिट्टी धुलती है तो अगार में मिट्टी घुलती है। पाल की मिट्टी कटती है तो आगार में मिट्टी भरती है।

तालाब के स्वरूप के बिगड़ने का यह खेल नियमित चलता रहता है। इसलिए तालाब बनाने वाले लोग, तालाब बनाने वाला समाज तालाब के स्वरूप को बिगड़ने से बचाने का खेल भी उतने ही नियमपूर्वक खेलता रहा है। जो तालाब देखते ही देखते पिछले पचास-सौ बरस में नष्ट कर दिए गए हैं, उन तालाबों ने नियम से खेले गए खेलों के कारण ही कुछ सैकड़ों बरसों तक समाज का खेल ठीक से चलाया था।

पहली बार पानी भरा नहीं कि तालाब की रखवाली का, रख-रखाव का काम शुरू हो जाता था। यह आसान नहीं था। पर समाज को देश के इस कोने से उस कोने तक हजारों तालाबों को ठीक-ठाक बनाए रखना था, इसलिए उसने इस कठिन काम को हर जगह इतना व्यवस्थित बना लिया था कि यह सब बिल्कुल सहज ढंग से होता रहता था।

आगौर में कदम रखा नहीं कि रख-रखाव का पहला काम देखने को मिल जाएगा। देश के कई क्षेत्रों में तालाब का आगौर प्रारंभ होते ही उसकी सूचना देने के लिए पत्थर के सुंदर स्तंभ लगे मिलते हैं। स्तंभ को देखकर समझ लें कि अब आप तालाब के आगौर में खड़े हैं, यहीं से पानी तालाब में भरेगा। इसलिए इस जगह को साफ-सुथरा रखना है। जूते आदि पहन कर आगौर में नहीं आना है, दिशा मैदान आदि की तो बात दूर, यहां थूकना तक मना रहा है। 'जूते पहन कर आना मना है', 'थूकना मना है' जैसे बोर्ड नहीं ठोंके जाते थे पर सभी लोग बस स्तंभ देखकर इन बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे।

आगर के पानी की साफ-सफाई और शुद्धता बनाए रखने का काम भी पहले दिन से ही शुरू हो जाता था। नए बने तालाब में जिस दिन पानी भरता, उस दिन समारोह के साथ उसमें जीव-जंतु लाकर छोड़े जाते थे। इनमें मछलियां, कछुए, केकड़े और अगार तालाब बड़ा और गहरा हो तो मगर भी छोड़े जाते थे। कहीं-कहीं जीवित प्राणियों के साथ सामर्थ्य के अनुसार चांदी या सोने तक के जीव-जंतु विसर्जित किए जाते थे। मध्य प्रदेश के रायपुर शहर में अभी कोई पचास-पचपन बरस पहले एक तालाब में सोने की नथ पहनाकर कछुए छोड़े गए थे।

पहले वर्ष पानी में कुछ विशेष प्रकार की वनस्पति भी डाली

जाती थी। अलग-अलग क्षेत्र में इनका प्रकार बदलता था पर काम एक ही था - पानी को साफ रखना। मध्य प्रदेश में यह गदिया या चीला थी तो राजस्थान में कुमुदनी, निर्मली या चाक्षुष। चाक्षुष से ही चाकसू शब्द बना है। कोई एक ऐसा दौर आया होगा कि तालाब के पानी की साफ-सफाई के लिए चाकसू पौधे का चलन खूब बढ़ गया होगा। आज के जयपुर के पास एक बड़े कस्बे का नाम चाकसू है। यह नामकरण शायद चाकसू पौधे के प्रति कृतज्ञता जताने के लिए किया गया हो।

पाल पर पीपल, बरगद और गूलर के पेड़ लगाए जाते रहे हैं। तालाब और इन पेड़ों के बीच उम्र को लेकर हमेशा होड़-सी दिखती थी। कौन ज्यादा टिकता है - पेड़ या तालाब? लेकिन यह प्रश्न प्रायः अनुत्तरित ही रहा है। दोनों को एक-दूसरे का लंबा संग इतना भाया कि उपेक्षा के इस ताजे दौर में जो भी पहले गया, दूसरा शोक में उसके पीछे-पीछे चला गया है। पेड़ कटे हैं तो तालाब भी कुछ समय में सूखकर पट गया है और यदि पहले तालाब नष्ट हुआ तो पेड़ भी बहुत दिन नहीं टिक पाए हैं।

तालाबों पर आम भी खूब लगाया जाता रहा है, पर यह पाल पर कम, पाल के नीचे की जमीन में ज्यादा मिलता है। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में बहुत से तालाबों में शीतला माता का वास माना गया है और इसलिए ऐसे तालाबों की पाल पर नीम के पेड़ जरूर लगाए जाते रहे हैं। बिना पेड़ की पाल की तुलना बिना मूर्ति के मंदिर से भी की गई है।

बिहार और उत्तर प्रदेश के अनेक भागों में पाल पर अरहर के पेड़ भी लगाए जाते थे। इन्हीं इलाकों में नए बने तालाब की पाल पर कुछ समय तक सरसों की खली का धुआं किया जाता था ताकि नई पाल में चूहे आदि बिल बनाकर उसे कमजोर न कर दें। ये सब काम ऐसे हैं, जो तालाब बनने पर एक बार करने पड़ते हैं, या बहुत जरूरी हो गया तो एकाध बार और। लेकिन तालाब में हर वर्ष मिट्टी जमा होती है। इसलिए उसे हर वर्ष निकालते रहने का प्रबंध सुंदर नियमों में बांध कर रखा गया था। कहीं साद निकालने के कठिन श्रम को एक उत्सव, त्योहार में बदल कर आनंद का अवसर बनाया गया था तो कहीं उसके लिए इतनी ठीक व्यवस्था कर दी गई कि जिस तरह वह चुपचाप तालाब के तल में आकर बैठती थी, उसी तरह चुपचाप उसे बाहर निकाल कर पाल पर जमा दिया जाता था।

साद निकालने का समय अलग-अलग क्षेत्रों में मौसम को देखकर तय किया जाता रहा है। उस समय तालाब में पानी सबसे कम रहना चाहिए। गोवा और पश्चिमी घाट के तटवर्ती क्षेत्रों में यह काम दीपावली के तुरंत बाद किया जाता है। उत्तर के बहुत बड़े भाग

में नव वर्ष यानी चैत्र से ठीक पहले, तो छत्तीसगढ़, ओड़िशा, बंगाल, बिहार और दक्षिण में बरसात आने से पहले खेत तैयार करते समय।

आज तालाबों से कट गया समाज, उसे चलाने वाला प्रशासन तालाब की सफाई और साद निकालने का काम एक समस्या की तरह देखता है और वह इस समस्या को हल करने के बदले तरह-तरह के बहाने खोजता है। उसके नए हिसाब से यह काम खर्चीला है। कई कलेक्टरों ने समय-समय पर अपने क्षेत्र में तालाबों से मिट्टी नहीं निकाल पाने का एक बड़ा कारण यही बताया है कि इसका खर्च इतना ज्यादा है कि उसमें तो नया तालाब बनाना सस्ता पड़ेगा। पुराने तालाब साफ नहीं करवाए गए और नए तो कभी बने ही नहीं। साद तालाबों में नहीं, नए समाज के माथे में भर गई है!

तब समाज का माथा साफ था। उसने साद को समस्या की तरह नहीं बल्कि तालाब के प्रसाद की तरह ग्रहण किया था। प्रसाद को ग्रहण करने के पात्र थे किसान, कुम्हार और गृहस्थ। इस प्रसाद को लेने वाले किसान प्रति गाड़ी के हिसाब से मिट्टी काटते, अपनी गाड़ी भरते और इसे खेतों में फैला कर उनका उपजाऊपन बनाए रखते। इस प्रसाद के बदले वे प्रति गाड़ी के हिसाब से कुछ नकद या फसल का कुछ अंश ग्राम कोष में जमा करते थे। फिर इस राशि से तालाबों की मरम्मत का काम होता था। आज भी छत्तीसगढ़ में लद्दी निकालने का काम मुख्यतः किसान परिवार ही करते हैं। दूर-दूर तक साबुन पहुंच जाने के बाद भी कई घरों में लद्दी से सिर धोने और नहाने का चलन जारी है।

बिहार में यह काम उड़ाही कहलाता है। उड़ाही समाज की सेवा है, श्रमदान है। गांव के हर घर से काम कर सकने वाले सदस्य तालाब पर एकत्र होते थे। हर घर दो से पांच मन मिट्टी निकालता था। काम के समय वही गुड़ का पानी बंटता था। पंचायत में एकत्र हर्जाने की रकम का एक भाग उड़ाही के संयोजन में खर्च होता था।

दक्षिण में धर्मादा प्रथा थी। कहीं-कहीं इस काम के लिए गांव की भूमि का एक हिस्सा दान कर दिया जाता था और उसकी आमदनी सिर्फ साद निकालने के लिए खर्च की जाती थी। ऐसी भूमि को कोडगे कहा जाता था।

राज और समाज मिलकर कमर कस लें तो फिर किसी काम में ढील कैसे आएगी। दक्षिण में तालाबों के रख-रखाव के मामले में राज और समाज का यह तालमेल खूब व्यवस्थित था। राज के खजाने से इस काम के लिए अनुदान मिलता था पर उसी के साथ हर गांव में इस काम के लिए एक अलग खजाना बन जाए, ऐसा भी इंतजाम था।

हर गांव में कुछ भूमि, कुछ खेत या खेत का कुछ भाग तालाब की व्यवस्था के लिए अलग रख दिया जाता था। इस पर लगान नहीं लगता था। ऐसी भूमि मान्यम् कहलाती थी। मान्यम् से होने वाली बचत, आय या मिलने वाली फसल तालाब से जुड़े तरह-तरह के कामों को करने वाले लोगों को दी जाती थी। जितनी तरह के काम उतनी तरह के मान्यम्। जो काम जहां होना है वहीं उसका प्रबंध किया जाता

था, वहीं उसका खर्च जुटा लिया जाता था। अलौति मान्यम् से श्रमिकों के पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाती थी। अणैकरण मान्यम् पूरे वर्ष भर तालाब की देखरेख करने वालों के लिए था। इसी से उन परिवारों की जीविका भी चलती थी, जो तालाब की पाल पर पशुओं को जाने से रोकते थे। पाल की तरह तालाब के आगौर में भी पशुओं के आने-जाने पर रोक थी। इस काम में भी लोग साल भर लगे रहते थे। उनकी व्यवस्था बंदेला मान्यम् से की जाती थी।

तालाब से जुड़े खेतों में फसल बुवाई से कटाई तक पशुओं को रोकना एक निश्चित अवधि तक चलने वाला काम था। यह भी बंदेला मान्यम् से पूरा होता था। इसे करने वाले पट्टी कहलाते थे।

सिंचाई के समय नहर का डाट खोलना, समय पर पानी पहुंचाना एक अलग जिम्मेदारी थी। इस सेवा को नीरमुनक मान्यम् से पूरा किया जाता था। कहीं किसान पानी की बर्बादी तो नहीं कर



रहे, इसे देखने वालों का वेतन कुलमकवल मान्यम् से मिलता था।

तालाब में कितना पानी आया है, कितने खेतों में क्या-क्या बोया गया है, किसे कितना पानी चाहिए - जैसे प्रश्न नीरघंटी या नीरुकुट्टी हल करते थे। यह पद दक्षिण में सिर्फ हरिजन परिवार को मिलता था। तालाब का जल स्तर देखकर खेतों में उसके न्यायोचित बंटवारे के बारीक हिसाब-किताब की विलक्षण क्षमता नीरुकुट्टी को विरासत में मिलती थी। आज के कुछ नए समाजशास्त्रियों का कहना है कि हरिजन परिवार को यह पद स्वार्थवश दिया जाता था। इन परिवारों के पास भूमि नहीं होती थी इसलिए भूमिवानों के खेतों में पानी के किसी भी विवाद में वे निष्पक्ष होकर काम कर सकते थे। यदि सिर्फ भूमिहीन होना ही योग्यता का आधार था तो फिर भूमिहीन ब्राह्मण तो सदा मिलते रह सकते थे! लेकिन इस बात को यहीं छोड़ें और फिर लौटें मान्यम् पर।

कई तालाबों का पानी सिंचाई के अलावा पीने के काम भी आता था। ऐसे तालाबों से घरों तक पानी लेकर आने वाले कहारों

के लिए उरणी मान्यम् से वेतन जुटाया जाता था। उप्पार और वादी मान्यम् से तालाबों की साधारण टूट-फूट ठीक की जाती थी। वयकल मान्यम् से तालाबों की साधारण टूट-फूट ठीक की जाती थी। वायकल मान्यम् तालाब के अलावा उनसे निकली नहरों की देखभाल में खर्च होता था। पाल से लेकर नहरों तक पर पेड़ लगाए जाते थे और पूरे वर्ष भर उनकी सार-संभाल, कटाई, छाटाई आदि का काम चलता रहता था। यह सारी जिम्मेदारी मानल मान्यम् से पूरी की जाती थी।

खुलगा मान्यम् और पाटुल मान्यम् मरम्मत के अलावा क्षेत्र में बनने वाले नए तालाबों की खुदाई में होने वाले खर्च संभालते थे।

एक तालाब से जुड़े इतने तरह के काम, इतनी सेवाएं वर्ष भर ठीक से चलती रहें - यह देखना भी एक काम था। किस काम में कितने लोगों को लगाना है, कहां से कुछ को घटाना है - यह सारा संयोजन करैमान्यम् से पूरा किया जाता था। इसे कुलम वेडु या कण्मोई वेडु भी कहते थे। दक्षिण का यह छोटा और साधारण-सा वर्णन तालाब और उससे जुड़ी पूरी व्यवस्था की थाह नहीं ले सकता। यह तो अथाह है। ऐसी ही या इससे मिलती-जुलती व्यवस्थाएं सभी हिस्सों में, उत्तर में, पूरब-पश्चिम में भी रही ही होंगी। पर कुछ तो गुलामी के उस दौर में टूटे और फिर विचित्र आजादी के इस दौर में फूटे समाज में यह सब बिखर गया। लेकिन गैंगजी कला जैसे लोग इस टूटे-फूटे समाज में बिखर गई व्यवस्था को अपने ढंग से ठीक करने आते रहे हैं।

नाम तो था गंगाजी पर फिर न जाने कैसे वह गैंगजी हो गया। उनका नाम स्नेह, आत्मीयता के कारण बिगड़ा या घिसा होगा लेकिन उनके शरीर को कुछ सौसाल से घेर कर घड़े आठ भव्य तालाब ठीक व्यवस्था के टूट जाने के बाद धीरे-धीरे आ रही उपेक्षा के कारण घिसने-बिगड़ने लगे थे। अलग-अलग पीढ़ियों ने इन्हें अलग-अलग समय में बनाया था, पर आग में से छह एक शृंखला में बांधे गए थे। इनका रख-रखाव भी उन पीढ़ियों ने शृंखला में बंध कर ही किया होगा। सार-संभाल की वह व्यवस्थित कड़ी फिर कभी टूट गई।

इस कड़ी के टूटने की आवाज गैंगजी के कान में कब पड़ी, पता नहीं। पर आज जो बड़े-बूढ़े फौलादी शहर में हैं, वे गैंगजी की एक ही छवि याद रखे हैं : टूटी चप्पल पहने गैंगजी सुबह से शाम तक इन तालाबों के चक्कर लगाते थे। नहाने वाले घाटों पर, पानी लेने वाले घाटों पर कोई गंदगी फैलाता दिखे तो उसे पिता जैसी डांट पिलाते थे।

कभी वे पाल का तो कभी नेष्टा का निरीक्षण करते। कहां किस तालाब में कैसी मरम्मत चाहिए - इसकी मन ही मन सूची बनाते। इन तालाबों पर आने वाले बच्चों के साथ खुद खेलते और उन्हें तरह-तरह के खेल खिलाते। शहर को तीन तरफ से घेरे खड़े तालाबों का एक चक्कर लगाने में कोई 3 घंटे लगते हैं। गैंगजी कभी पहले तालाब पर दिखते तो कभी आखिरी पर, कभी सुबह यहां मिलते तो दोपहर वहां और शाम न जाने कहां। गैंगजी अपने आप तालाबों के रखवाले बन गए थे।

वर्ष के अंत में एक समय ऐसा आता जब गैंगजी तालाबों के बदले शहर की गली-गली घूमते दिखते। साथ चलती बच्चों की फौज। हर घर का दरवाजा खुलने पर उन्हें बिना मांगे एक रुपया मिल जाता। बरसों से हरेक घर जानता था कि गैंगजी सिर्फ एक रुपया मांगते हैं, न कम न ज्यादा। रुपए बटोरने का काम पूरा होते ही वे पूरे शहर के बच्चों को बटोरते। बच्चों के साथ ढेर सारी टोकरियां, तगाड़िया, फावड़े, कुदाल भी जमा जाते। फिर एक के बाद एक तालाब साफ होने लगता। साद निकाल कर पाल पर जमाई जाती। हरेक तालाब के नेष्टा का कचरा भी इसी तरह साफ किया जाता। एक तगाड़ी मिट्टी-कचरे के बदले हर बच्चे को दुअन्नी इनाम में मिलती।

गैंगजी कला कब से यह कर रहे थे - आज किसी को याद नहीं। बस इतना पता है कि यह काम सन् 55-56 तक चलता रहा। फिर गैंगजी चले गए।

शहर को वैसी किसी मृत्यु की याद नहीं। पूरा शहर शामिल था उनकी अंतिम यात्रा में। एक तालाब से नीचे ही बने घाट पर उनका अंतिम संस्कार हुआ। बाद में वहीं उनकी समाधि बनाई गई।

जो तालाब बनाते थे, समाज उन्हें संत बना देता था। गैंगजी ने तालाब तो नहीं बनाया था। पहले बने तालाबों की रखवाली की थी। वे भी संत बन गए थे।

फलौदी में तालाबों की सफाई का खेल संत खिलवाता था तो जैसलमेर में यह खेल खुद राजा खेलता था।

सभी को पहले से पता रहता था फिर भी नगर-भर में टिंढोरा पिटता था। राजा की तरफ से, वर्ष के अंतिम दिन, फाल्गुन कृष्ण चौदस को नगर के सबसे बड़े तालाब घड़सीसर पर जमा होती। राजा तालाब की मिट्टी काट कर पहली तगाड़ी भरता और उसे खुद उठाकर पाल पर डालता। बस गाजे-बाजे के साथ ल्हास शुरू। पूरी प्रजा का खाना-पीना दरबार की तरफ से होता। राजा और प्रजा सबके हाथ मिट्टी में सन जाते। राजा इतने तन्मय हो जाते कि उस दिन उनके कंधे से किसी का भी कंधा टकरा सकता था। जो दरबार में भी सुलभ नहीं, आज वही तालाब के दरवाजे पर, मिट्टी ढो रहा है। राजा की सुरक्षा की व्यवस्था करने वाले, उनके अंगरक्षक भी मिट्टी काट रहे हैं, मिट्टी डाल रहे हैं। ऐसे ही एक ल्हास में जैसलमेर के राजा तेजसिंह पर हमला हुआ था। वे पाल पर ही मारे गए थे। लेकिन ल्हास खेलना बंद नहीं हुआ। यह चलता रहा, फैलता रहा। मध्य प्रदेश के भील समाज में भी ल्हास खेला जाता है, गुजरात में भी ल्हास चलती है। वहां यह परंपरा तालाब से आगे बढ़कर समाज के ऐसे किसी भी काम से जुड़ गई थी, जिसमें सबकी मदद चाहिए। सबके लिए सबकी मदद।

इसी परंपरा से तालाब बनते थे, इसी से उनकी देखभाल होती थी। मिट्टी कटती थी, मिट्टी डलती थी। समाज का खेल ल्हास के उल्लास से चलता था।

साभार : आज भी खरे हैं तालाब
शेष अगले अंक में

हिंदू धर्म क्या है?

■ पंडित जवाहरलाल नेहरू

इस उद्धरण में विन्सेंट स्मिथ ने 'हिंदू-धर्म' और 'हिंदूपन' शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह इस्तेमाल करना ठीक नहीं। अगर इनका इस्तेमाल हिंदुस्तानी तहज़ीब के विस्तृत मानी में किया जाए, तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का इस्तेमाल, जबकि ये बहुत संकुचित अर्थ में लिये जाते हैं और इनसे एक खास मज़हब का खयाल होता है, ग़लतफ़हमी पैदा कर सकता है। हमारे पुराने साहित्य में तो 'हिंदू' शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक में मिलता है, वह है आठवीं सदी ईसवी के एक तांत्रिक ग्रंथ में, और

वहां हिंदू का मतलब किसी खास धर्म से नहीं, बल्कि खास लोगों से है। लेकिन यह ज़ाहिर है कि यह लफ़्ज बहुत पुराना है और 'अवेस्ता' में और पुरानी फ़ारसी में आता है। उस समय, और उस समय से हज़ार साल बाद तक पश्चिमी और मध्य-एशिया के लोग इस लफ़्ज का

इस्तेमाल हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसने वाले लोगों के लिए करते थे। यह लफ़्ज साफ़-साफ़ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इंडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इंडोस' और 'इंडिया' भी। मशहूर चीनी यात्री इत्-सिंग ने, जो हिंदुस्तान में सातवीं सदी ईसवी में आया था, अपनी यात्रा के बयान में लिखा है कि 'उत्तर की जातियां' यानी, मध्य-एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदू (सीन्-तु) कहते हैं, लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नहीं है... हिंदुस्तान का सबसे मुनासिब नाम आर्य-देश है।" एक खास मज़हब के माने में 'हिंदू' शब्द का इस्तेमाल बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान में मज़हब के लिए पुराना व्यापक शब्द 'आर्य-धर्म' था। दरअसल धर्म का अर्थ मज़हब या 'रिलिजन' से ज़्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है, उसके मानी हैं 'एक साथ पकड़ना।' यह किसी वस्तु की भीतरी आकृति, उसके आंतरिक जीवन के विधान, के अर्थ में आता

है। इसके अंदर नैतिक विधान, सदाचार और आदमी की सारी ज़िम्मेदारियां और कर्तव्य आ जाते हैं। आर्य-धर्म के भीतर वे सभी मत आ जाते हैं, जिनका आरंभ हिंदुस्तान में हुआ है, वे मत चाहे वैदिक हों, चाहे अ-वैदिक। इसका व्यवहार बौद्धों और जैनों ने भी किया है और उन लोगों ने भी, जो वेदों को मानते हैं। बुद्ध अपने बनाये मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य-मार्ग' कहते थे।

पुराने ज़माने में 'वैदिक-धर्म' शब्दों का इस्तेमाल खासतौर पर उन दर्शनों, नैतिक शिक्षाओं, कर्म-कांड और व्यवहारों के लिए होता था, जिनके बारे में समझा जाता था कि वे वेद पर

अवलंबित हैं। इस तरह से, वे सभी लोग, जो वेदों को आमतौर पर प्रमाण मानते थे, वैदिक धर्म वाले कहलाये।

सभी क़दीम हिंदुस्तानी मतों के लिए और इनमें बुद्ध-मत और जैन मत भी शामिल हैं 'सनातन-धर्म' यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो

सकता है, लेकिन इस पर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलों ने एकाधिकार कर रखा है, जिनका दावा है कि वे इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म यकीनी तौर पर हिंदू-धर्म नहीं हैं और न वैदिक धर्म ही है। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई और ये हिंदुस्तानी ज़िंदगी, तहज़ीब और फ़िलसफ़े के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी हिंदुस्तानी विचार-धारा और संस्कृति की सौ फ़ीसदी उपज हैं, फिर भी इनमें से कोई भी मत के खयाल से हिंदू नहीं है। इसलिए हिंदुस्तानी संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना एक सरासर ग़लतफ़हमी फैलाने वाली बात है। बाद के वक्तों में इस संस्कृति पर इस्लाम के संपर्क का बड़ा असर पड़ा, लेकिन यह फिर भी बुनियादी तौर पर और साफ़-साफ़ हिंदुस्तानी ही बनी रही। आज यह सैंकड़ों तरीकों पर पश्चिम की व्यावसायिक सभ्यता के ज़ोरदार असर का अनुभव कर रही है और यह ठीक-ठाक बता सकना मुश्किल है कि इसका नतीजा क्या होकर रहेगा।

हिंदू-धर्म जहां तक कि वह एक मत है, अस्पष्ट है, इसकी कोई निश्चित रूपरेखा नहीं; इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप में कह सकना कि साधारण अर्थ में यह एक मत है, कठिन है। अपनी मौजूदा शकल में, बल्कि बीते हुए ज़माने में भी, इसके भीतर बहुत-से विश्वास और कर्म-कांड आ मिले हैं, ऊंचे-से-ऊंचे और गिरे-से-गिरे, और अकसर इनमें आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पड़ती है कि अपने को ज़िंदा रखो और दूसरे को भी जीने दो। महात्मा गांधी ने इसकी परिभाषा देने की कोशिश की है “अगर मुझसे हिंदू-मत की परिभाषा देने को कहा जाए, तो मैं सिर्फ़ यह कहूंगा कि ‘यह अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज है।’ आदमी चाहे ईश्वर में विश्वास न रखे, फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदू-धर्म सत्य की अनथक खोज है...हिंदू-धर्म सत्य को मानने वाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।” गांधीजी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं, लेकिन बहुत-से प्रमुख लोग, जिनके हिंदू होने में कोई संदेह नहीं, यह कह देते हैं कि अहिंसा, जैसा उसे गांधीजी समझते हैं, हिंदू-मत का आवश्यक अंग नहीं है। तो फिर हिंदू-मत का अकेला सूचक चिह्न सत्य रह जाता है। ज़ाहिर है यह कोई परिभाषा नहीं हुई।

इसलिए ‘हिंदू’ और ‘हिंदू-धर्म’ शब्दों का हिंदुस्तानी संस्कृति के लिए इस्तेमाल किया जाना न तो शुद्ध है और न मुनासिब ही है, चाहे इन्हें बहुत पुराने ज़माने के हवाले में ही क्यों न इस्तेमाल कर रहे हों, अगरचे बहुत-से विचार, जो प्राचीन ग्रंथों में सुरक्षित हैं, इस संस्कृति के उद्गार हैं। और आज तो इन शब्दों का इस अर्थ में इस्तेमाल किया जाना और भी ग़लत है। जब तक पुराने विश्वास और फ़िलसफ़े सिर्फ़ ज़िंदगी के एक मार्ग और संसार को देखने के एक रुख के रूप थे, तब तक तो अधिकतर हिंदुस्तानी संस्कृति का पर्याय हो सकते थे। लेकिन जब एक ज़्यादा पाबंदी वाले मज़हब का विकास हुआ, जिसके साथ न जाने कितने विधि-विधान और कर्म-कांड लगे हुए थे, तब यह उससे कुछ आगे बढ़ी हुई चीज़ थी और साथ ही उस मिली-जुली संस्कृति के मुक़ाबले में घटकर भी थी। एक ईसाई या मुसलमान अपने को हिंदुस्तानी ज़िंदगी और संस्कृति के मुताबिक़ ढाल सकता था और अकसर ढाल लेता था, और साथ ही जहां तक मज़हब का ताल्लुक है, वह कट्टर ईसाई या मुसलमान बना रहता था। उसने अपने को हिंदुस्तानी बना लिया था और बिना अपना मज़हब बदले हुए हिंदुस्तानी बन गया था।

‘हिंदुस्तानी’ के लिए ठीक शब्द ‘हिंदी’ होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे संस्कृति के लिए और चाहे अपनी भिन्न परंपराओं के तारीख़ी सिलसिले के लिए इस्तेमाल करें। यह लफ़्ज़ ‘हिंद’ से बना है, जो हिंदुस्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए ‘हिंद’ शब्द का आमतौर पर प्रयोग होता है। पश्चिमी एशिया के मुल्कों में, ईरान और टर्की में, इराक़, अफ़ग़ानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहों में, हिंदुस्तान के लिए बराबर ‘हिंद’ शब्द का इस्तेमाल किया जाता है और इन सभी जगहों में हिंदुस्तानी को ‘हिंदी’ कहते हैं। ‘हिंदी’ का मज़हब से कोई संबंध नहीं और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से ‘हिंदी’ हैं, जिस तरह से एक हिंदू मत का मानने वाला। अमरीका के लोग, जो सभी हिंदुस्तानियों को हिंदू कहते हैं, बहुत ग़लती नहीं करते। अगर वे ‘हिंदी’ शब्द का प्रयोग करें, तो उनका प्रयोग बिल्कुल ठीक होगा। दुर्भाग्य से ‘हिंदी’ शब्द हिंदुस्तान में एक खास लिपि के लिए इस्तेमाल होने लगा है यह भी संस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ में इस्तेमाल करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकल के मुवाह से ख़त्म हो लें, तो हम फिर इस शब्द का इस्तेमाल उसके मौलिक अर्थ में कर सकें और वह ज़्यादा संतोषजनक होगा। आज हिंदुस्तान के रहने वालों के लिए ‘हिंदुस्तानी’ शब्द का इस्तेमाल होता है और ज़ाहिर है कि वह हिंदुस्तान से बनाया गया है; लेकिन बोलने में यह बड़ा है और इसके साथ वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ख़याल नहीं जुड़े हैं, जो ‘हिंदी’ के साथ जुड़े हैं, निश्चय ही, प्राचीन काल की हिंदुस्तान की संस्कृति के लिए ‘हिंदुस्तान’ शब्द का इस्तेमाल अटपटा जान पड़ेगा।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए हम हिंदी या हिंदुस्तानी, जो भी इस्तेमाल करें, हम यह देखेंगे कि पुराने ज़माने में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी तहज़ीब और क़ौम के विकास का आधार, खासकर हिंदुस्तान का, फ़िलसफ़ियाना रुख रहा है। विदेशी तत्वों का हर हमला इस संस्कृति के लिए एक चुनौती था और उनका सामना इसने हर बार एक नये समन्वय के ज़रिये, उन्हें अपने में ज़ज़ब करके किया है। इस तरीक़े से उसका काया-कल्प भी होता रहा है और अगरचे पृष्ठभूमि वही रही है और बुनियादी बातों में कोई खास तब्दीली नहीं हुई है। इस समन्वय के कारण संस्कृति के नये-नये फूल खिले हैं। सी. ई. एम. जोड ने इसके बारे में लिखा है “इसकी वजह जो कुछ भी हो, वाक़या यह है कि क़ौमों के जुदा-जुदा तत्वों के समन्वय की ओर विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।”

साभार : हिंदुस्तान की कहानी

अब तो मैं हिंदू भी नहीं रह गया हूँ

■ उदय प्रकाश

देश में बढ़ती असहिष्णुता पर पिछले हफ्ते लोकसभा में हुई बहस के अंत में गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने पुरस्कार लौटाने वाले लेखकों, कलाकारों और इतिहासकारों से इस फैसले को बदलने की अपील की थी।

उन्होंने कहा था कि आप इस विषय पर बात करने के लिए बैठक बुलाइए जिसमें मैं खुद शामिल होऊँगा।

राजनाथ सिंह का आमंत्रण बहुत अच्छा है। लेकिन वो गृहमंत्री हैं और ये मामला संस्कृति और मानव संसाधन मंत्रालय से जुड़ा है। गृह मंत्रालय अंदरूनी खतरों से जुड़े मामलों को देखता है। हम लेखक इस देश के लिए अंदरूनी खतरा नहीं हैं। हम लोग अंदरूनी शांति को बनाए रखना चाहते हैं।

बेहतर ये होगा कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी एक ऐसी बैठक बुलाएँ जिसमें विदेश राज्यमंत्री वीके सिंह, वित्तमंत्री अरुण जेटली, मानव संसाधन मंत्री स्मृति ईरानी और सांस्कृतिक मामलों के मंत्री महेश चंद्र शर्मा शामिल हों। ये लोग इटैलिजेंसिया के चुने हुए लोगों से बात करें और समझें कि उनकी समस्या क्या है।

अगर लेखक प्रश्न पूछें तो उन प्रश्नों के उत्तर भी दिए जाएँ। सरकार और लेखकों के बीच ये जो टकराव दिख रहा है उसके बारे में कभी इतालवी बुद्धिजीवी ग्राम्शी ने कहा था कि ये राजनीतिक तंत्र और नागरिक तंत्र के बीच का द्वंद्व है। इसे पुरस्कार लौटाने वाले लेखकों और राजनीतिक सरकार के बीच का द्वंद्व नहीं मानना चाहिए।

इस दौर में सरकारों को ही राष्ट्र मानने की गलती की जा रही है। सरकार का विरोध करने वालों को बार-बार राष्ट्र विरोधी कह दिया जाता है लेकिन सरकार राष्ट्र नहीं है। भारत संघीय गणराज्य है। पर इसे बार-बार राष्ट्र-राष्ट्र कहा जाता है। ये नेशन बनने की प्रक्रिया में है बन सकता है या नहीं इसका जवाब भविष्य में है।

राजसत्ता के चार अंग होते हैं जिनके ज़रिए हमारा संविधान हमें सुरक्षित करता है, सुरक्षा की गारंटी देता है। उसमें अनुच्छेद 19 है जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी देता है।

पुरस्कार वापसी के इस पूरे विवाद में उम्मीद तो ये थी कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी खुद बोलेंगे। पर वो नहीं बोले, हालाँकि उन्होंने संविधान दिवस पर संसद में अच्छा भाषण दिया। मैंने उनकी तारीफ़ भी की थी जिस पर हिंदी के

वामपंथियों ने मेरे बयान के ऊपर के हिस्से को लेकर मेरी आलोचना की।

पर मैंने तारीफ़ की थी तो संदेह भी प्रकट किया था। मैंने दोमुँहेपन या डबल स्पीक का ज़िक्र किया था। अपने उपन्यास 1984 में अँग्रेज़ उपन्यासकार जॉर्ज ऑरवेल ने डबल स्पीक के बेहतरीन उदाहरण दिए हैं। यानी जो कहा जाता है वो किया नहीं जाता।

मैं अपने जीवन में लंबे समय तक समाजवाद और वामपंथ से जुड़ा रहा। वामपंथी विमर्श में जो बोला गया क्या वो किया गया? कौन सा ऐसा यूटोपिया था जिसे यथार्थ में बदलने की कोशिश की गई? हम सब जानते हैं कि हम सब डिस्टोपिया के समय में रह रहे हैं। अब स्वर्ग का लुभावना सपना हमें नहीं बेच सकता है। हम जागरूकता के युग में रह रहे हैं। हम अपनी सब मासूमियत खो चुके हैं।

जब मैंने पुरस्कार वापस करने की घोषणा फ़ेसबुक पर की, तब तक ये अंदाज़ा नहीं था कि ये मामला इतना बड़ा हो जाएगा। शुरू के 20-25 दिन तो मेरी आलोचना हुई, मज़ाक उड़ाया गया। हिंदी की तरफ़ से सबसे ज्यादा आलोचना हुई।

उसके कुछ समय बाद जब नयनतारा सहगल ने पुरस्कार लौटाया, फिर अशोक वाजपेयी, के सच्चिदानंदन, शशि देशपांडे, माया राव आदि ने लौटाया। फिर थिएटर, इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र के लोगों ने बौद्धिक समुदाय की ओर से पुरस्कार लौटाए।

पर सरकार और अन्य संस्थाओं की ओर से क्या कहा गया? विदेश राज्य मंत्री वीके सिंह ने कहा कि पुरस्कार लौटाने वाले शराबखोर (बिग बूज़र्स) हैं। फिर उन्होंने कहा कि ये लोग पैसा लेकर पुरस्कार लौटा रहे हैं। संस्कृति मंत्री महेश चंद्र शर्मा ने कहा पुरस्कार वापस करने वालों की पृष्ठभूमि की जाँच करनी चाहिए।

पर क्यों न हम नागरिक समाज के लोग इन राजनेताओं की पृष्ठभूमि की जाँच करें। जब बार-बार कैबिनेट मंत्रियों की ओर से इस तरह के बयान आए तो भय बढ़ता ही गया। फिर साहित्य अकादमी (हमारी संस्था) के प्रमुख ने ही कहा कि जिन्होंने पुरस्कार लौटाए हैं वो ब्याज भी लौटाएँ। उन्हें जो प्रतिष्ठा मिली है उसे भी अदा करें।

क्या ये लोग राष्ट्रीय संस्थाओं को किसी बैंक की तरह

चलाना चाहते हैं। या हर कोई पुलिस और मिलट्री के अफसर हैं? चेतन भगत जैसे लेखक ने कहा कि पुरस्कार वापस करने वालों को अपने पासपोर्ट भी जमा करवा देने चाहिए। क्या हम लेखक कोई स्मगलर या टैक्स चोर हैं कि इस देश से भाग न पाएँ? हम यहीं रहें और मारे जाएँ। या फिर हर तरफ़ से अपमानित हों।

फिर कुछ समय बाद ही दादरी में (गोमांस खाने के शक में) अख़लाक़ की हत्या कर दी गई। युवा दलित लेखक हचंगी प्रसाद ने जातिवाद के खिलाफ़ लिखा तो उसकी उंगलियाँ काटने की धमकी दी गई। हालात यहाँ तक ख़राब हो गए कि खुद हिंदुत्व के समर्थक सुधीर कुलकर्णी के मुँह पर कालिख पोती गई और गुलाम अली को गाने से रोका गया। मेरा सवाल है कि क्या आप तराना, ख़याल, ठुमरी, तबला सबको बाहर कर देंगे? कहीं न कहीं ऐसा तबका आ गया था जो जानता ही नहीं था कि इस देश की संस्कृति और परंपरा है क्या?

कलाएँ और खेल वो अंतरसूत्र हैं जो किसी देश और समाज को जोड़े रहते हैं। क्या आप चाहते हैं कि सभी लोग एक व्यक्ति या विचार के आदेश पर चलें। एके रामानुजन की किताब 'हट्टेड रामायण' क्यों दिल्ली विश्वविद्यालय से हटाई गई?

विंडी डोनेगर की किताब 'हिस्ट्री ऑफ़ हिंदुइज्म' को वापस लेने पर क्यों मजबूर किया गया? किताबों पर प्रतिबंध लगाना, पाठ्यक्रम बदलना, फिल्म और टेलीविज़न इंस्टीट्यूट में ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करना जो सिनेमा के बारे में नहीं जानता है। नेशनल बुक ट्रस्ट, आइसीएचआर जैसी तमाम संस्थाओं में भी ऐसे ही लोग नियुक्त कर दिए गए हैं।

ये ऐसा आक्रमण है जो हमारी पूरी स्मृति, पूरी परंपरा पर होने जा रहा है। ये सब कुछ बहुत डरावना था जिसका विरोध होना ज़रूरी था। हिंसा का डर था इसमें मौखिक हिंसा भी शामिल है।

अभी अभिनेता आमिर ख़ान ने अपनी पत्नी किरण राव के हवाले से कहा कि इस डर के माहौल में किरण ने हिंदुस्तान से बाहर जाकर रहने की बात कही। इस पर आमिर ख़ान को सोशल मीडिया में 40 लाख बार तमाचे मारे गए। वही आमिर ख़ान जिन्होंने 2014 में अपने सभी अंगों के दान की घोषणा की थी, जिसके सरोकार इतने गहरे हैं, अचानक उसके प्रति इतनी घृणा पैदा करवा दी गई। हम कैसा समाज बना रहे है?

आपने इस हिंदुस्तान को क्यों ऐसा कर डाला कि आंबेडकर की तरह सब लोग इस धर्म, इस भाषा से बाहर हो रहे हैं? ऐसा मत कीजिए। जातीय समीकरण गहरा होता है। इनके रोटी-बेटी के संबंध होते हैं। वही वाम है, वही दक्षिण है, वही संघ में है वही जनवादी लेखक संघ में है या जसम

(जन संस्कृति मंच) में है। इसे रोकिए। एक अच्छा भारतीय बनिए। आधुनिक बनिए। जातीय ग्रंथों की बजाए बुद्ध की ओर जाइए, मार्क्स की ओर जाइए, या कुछ नहीं तो मेरी तरह सूफी हो जाइए।

ये मेरी अपील है। मुझे शायद फिर से कई तरह के विवादों का सामना करना पड़ेगा। पर 64 साल तो हो चुके हैं। अब कोई फ़र्क नहीं पड़ता। दो चार साल और जीवित रह गया तो बहुत है। ये ज़रूर चाहता हूँ कि कुछ लिखूँ। अगर लिखूँ तो समाज को जोड़ने की बात ही लिखूँगा, तोड़ने की बात नहीं लिखूँगा।

मुझसे पूछा जाता है कि क्या अब मैं लौटाए पुरस्कार को फिर स्वीकार कर एक नई पहल करना चाहूँगा? पुरस्कार वापस करना मेरे अकेले का फ़ैसला था। और अगर यह भी (पुरस्कार फिर स्वीकार करना) मैंने किया तो मुझे डर है कि मेरा ये क़दम भी कहीं एक सिंड्रोम न बन जाए।

किसी भी लौटाई चीज़ को लेना ठीक नहीं है। उसके लिए हिंदी में एक बहुत ख़राब मुहावरा है। पुरस्कार के साथ एक लाख रुपए की राशि भी है। एक फ़्रीलांस लेखक के लिए ये राशि बहुत बड़ी है। मैंने सुना है कि साहित्य अकादमी एक कमेटी बनाकर पुरस्कार की राशि के बारे में फ़ैसला करेगी। और तब तक हमने जो चेक वापस किए हैं उनकी मियाद ख़त्म हो जाएगी। इसका मतलब कि अकादमी ने हमारी राशि नहीं ली है। ऐसे में क्या होगा? वो रक़म तो हमारे बैंक में ही रह गई।

अब तो मैं हिंदू भी नहीं रह गया हूँ। मेरा आधा परिवार ईसाई हो चुका है। मैं हिंदू धर्म छोड़ रहा हूँ। नहीं छोड़ सकता क्योंकि उसमें जन्म लिया है मैंने। मेरी पत्नी भी दूसरी जाति की है। मेरा एक बेटा ईसाई है। आपने ऐसा क्यों कर डाला हिंदुस्तान को कि आंबेडकर की तरह सब लोग इस धर्म से बाहर हो रहे हैं, इस भाषा से बाहर हो रहे हैं। आप उनको और भगाकर पाकिस्तान भेजना चाहते हैं।

मेरा मन कहता है कि इस रक़म को हिंदी खड़ी बोली के आदिकवि 'हज़रत अमीर खुसरो' की मज़ार को बेहतर बनाने के लिए दे दूँ। खुसरो सूफी हैं और निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य भी रहे। मैं पिछले 35 साल से वहाँ जाता रहा हूँ। उनकी मज़ार की हालत ख़राब है। इसके अलावा मैं कुछ रक़म उन संस्थाओं को दे दूँगा और जो सहिष्णुता के लिए काम कर रही हैं।

अब मैं इस रक़म को वापस तो नहीं लूँगा और अगर सरकार ने मुझे हमेशा के लिए शत्रु नहीं मान लिया, तो मैं और लिखूँगा, अच्छा लिखूँगा तो पुरस्कार और मिलेंगे।

(बीबीसी हिंदी के रेडियो एडिटर राजेश जोशी से हुई बातचीत पर आधारित)

कम नहीं है स्वाधीनता संग्राम में कुल्लू का योगदान

■ तेज सिंह ठाकुर

1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम में जहाँ एक ओर संपूर्ण भारत का योगदान रहा वहीं दूसरी ओर आंचलिक हिस्से में बसा हिमाचल राज्य भी स्वाधीनता संग्राम में अहम् योगदान निभा रहा था विशेषकर कुल्लू और सिराज के क्रांतिकारियों ने गांधी टोपी तथा खदर पहन पुरजोर आंदोलन का बिगुल कुल्लू जिले में बजा दिया जिसके परिणामस्वरूप उनको आठ मास का दंड मिला।

और हिमाचल को संपूर्ण देश की आंदोलनकारी गतिविधियों से जोड़कर रखा। जिसके फलस्वरूप भारत की स्वाधीनता में हिमाचल का नाम स्वाधीनता संग्राम के ऐतिहासिक स्वर्णिम पन्नों में जुड़ गया।

लाहौर संधि के तहत कुल्लू 1846 ई. में अंग्रेजों के अधीन आ गया था। राजा ठाकुर सिंह को यहाँ का राजा न मान कर उनके

अधिकार केवल वजीर रूप तक ही सीमित कर दिये। शेष राज्य को अंग्रेजों ने अपने अधीन कर लिया था।

लेखक सतपाल महाशा ने अपनी पुस्तक 'कुल्लू का इतिहास एवं संस्कृति' में हवाला देते हुए लिखा है कि अंग्रेज़ सुपरिटेण्डेंट हिल स्टेट्स आई.सी. इरस्किन के अनुसार राजा का अधिकार किशन सिंह के पुत्र प्रताप सिंह को जाता था। परंतु उस समय उसका कुछ पता न था। किशन सिंह ने राजा जीत सिंह के विरुद्ध विद्रोह किया था। जिस कारण राजा जीत सिंह ने उसे तुंग के दुर्ग में बंदी बनाए रखा और उसकी मृत्यु भी वहीं हुई उसकी पत्नी अपने बेटे के साथ सुरक्षा के लिए कांगड़ा चली गयी। जहाँ राजा संसार चंद्र ने उसे द्रमण के निकट राजगिरी में जागीर दी। प्रताप सिंह सात साल

तक वहीं पला 1828 ई. में महाराजा रंजीत सिंह ज्वाला जी आये तो प्रताप सिंह की माता उनसे मिली। उसने कुल्लू राजा द्वारा उसके पति पर किये गये अत्याचारों के बारे में महाराजा को बताया तथा अपने पुत्र की रक्षा के लिए प्रार्थना की। महाराजा रंजीत सिंह ने प्रताप सिंह को बगसेड़ काँगड़ा के गांव जागीर में दिये और उसे शिक्षा-दीक्षा के लिए साथ लाहौर ले गया।



1841 ई. में राजा जीत सिंह की मृत्यु हुई और उसी साल उसके उत्तराधिकारी रणवीर सिंह की भी लाहौर जाते हुए रहस्यमय ढंग से मृत्यु हो गयी। प्रताप सिंह सिक्ख पहाड़ी रियासतों के निज़ाम लहणा सिंह के साथ बजौरा तक आया। लहणा सिंह उसे कुल्लू का राजा बनाना चाहता था। परंतु राजा ठाकुर सिंह ने लगभग 25 प्रतिष्ठित व्यक्ति उसका विरोध

करने के लिए भेजे। प्रताप सिंह उनके लिए अपरिचित था जबकि ठाकुर सिंह उनका देखा-परखा व्यक्ति था। परिस्थितियां विपरीत देख लहणा सिंह प्रताप सिंह सहित वापस लाहौर गया। इस घटना से प्रताप सिंह को आघात पहुंचा।

1845 ई. के आंग्ल-सिख युद्ध में प्रताप सिंह सिक्खों के पक्ष में अंग्रेजों के खिलाफ लड़ा जिसमें वह घायल हुआ। इसके पश्चात् प्रताप सिंह का कुछ पता न चला। कुछ का विचार है कि वह सिराज में छिपकर अपने को संगठित करता रहा, कुछ कहते हैं कि वह साधु के भेष में भ्रमण करता रहा। 1856 ई. में वह इसी भेष में कुल्लू आया। कायस में राजपरिवार की नौकरानी ने उसे पहचाना था। अपने भ्रमण के समय

प्रताप सिंह ने अंग्रेजों द्वारा किये जाने वाले अन्याय तथा अत्याचार अपनी आंखों से देखे। ऐतिहासिक पन्नों में दर्ज घटनाक्रमों के अनुसार जब राजा ठाकुर सिंह के पश्चात् ज्ञान सिंह को राजा बनाया गया तो उसका अंग्रेजों के प्रति रोष और तीव्र हो गया। दूसरी ओर अंग्रेजों ने ज्ञान सिंह को राजा के स्थान पर राय की उपाधि दी। उसे केवल आधी जागीर दी तथा न्यायिक तथा प्रशासनिक अधिकार भी नहीं दिये। इससे जनता में भी रोष फैल गया। राय ज्ञान सिंह तीन वर्ष तक अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहा।

1857 ई. में सारे भारत में स्वतंत्रता का संघर्ष आरंभ हुआ। प्रताप सिंह ने भी क्रांति के नेताओं से संपर्क किया। रामपुर बुशहर के राजा शमशेर सिंह ने अंग्रेजों को वार्षिक कर और सैनिक व्यय देना बंद करने और जतोग और कसौली में सैनिकों के विद्रोह से प्रताप सिंह को प्रेरणा मिली। उसने भी अंग्रेजों को उखाड़ फेंकने और राज्य प्राप्ति की योजना बना डाली। उसने अपने साथियों को संगठित किया। प्रथम चरण में उसने राय ज्ञान सिंह और अंग्रेजों के बीच फूट डालने की सोची।

सूरत राम वजीर प्रताप सिंह का परामर्शदाता बन गया था। उसने कर्नल को सूचना दी की राय ज्ञान सिंह अंग्रेजों के विरुद्ध षडयंत्र रचने की तैयारी में है और उसने काफी शस्त्र भी इकट्ठे कर लिये हैं। कर्नल ने राजभवन की तलाशी ली। बारूद व्यास नदी में फेंक दिया गया तथा शस्त्र तुड़वा दिये। राय ज्ञान सिंह के कई कर्मचारी पकड़ लिये गये। प्रताप सिंह अंग्रेजों का विश्वासपात्र बन गया। वह ज्ञान सिंह और अंग्रेजों के बीच संदेह उत्पन्न करने में सफल हुआ

दूसरे चरण में प्रताप सिंह और उसके साले वीर सिंह ने शांगरी बाहरी सिराज, भीतरी सिराज, कुल्लू, लाहौल स्पीति और बीड़ भंगाल गांव के नेगी नंबरदारों से संपर्क किया और क्रांति के लिए प्रेरित किया। ग्रामीण मुखियों तक अपनी योजना पहुंचवाई। शस्त्र टुकड़ियां बनाईं। इनमें से एक टुकड़ी को 1853 ई. में स्थापित मोरवियन चर्च मिशन के पादरियों को लाहौल से भगाने का काम सौंपा।

हथियार तथा बारूद इकट्ठा किया। क्रांति रक्षाबंधन के दिन आरंभ करने की योजना थी। जनता को तैयार करने के लिए एक पत्रक की कई प्रतियां जनता में बांटी गयीं। इसमें लिखा था सारे भारत में अंग्रेजों के

विरुद्ध जन-आंदोलन खड़ा हो गया है इसलिए सब कुल्लू निवासी मेजर तथा राय ज्ञान सिंह को उखाड़ फेंकने के लिए उसकी सहायता करें। दुर्भाग्य से प्रताप सिंह का एक साथी पलाइच के तहसीलदार द्वारा पकड़ लिया गया। जिससे पत्रक की एक प्रति प्राप्त हुई और भेद खुल गया। उसने तुरंत कुल्लू के उपायुक्त को सूचित किया। उसने एक सैनिक टुकड़ी सिराज भेजी।

प्रताप सिंह तथा उसके साथियों ने सराज में विद्रोह कर दिया तथा पलाइच की ओर कूच किया। परंतु सेना टुकड़ी के आगे टिक न सके। अतः वहां से भागे। तीसरे दिन वह अपने साथियों के साथ कण्ठी के निकट पहुंचा था कि नाकाबंद किये टुकड़ी से फिर संघर्ष हो गया। प्रताप सिंह मैदान के क्रांतिकारियों से जा मिलना चाहता था। इस संघर्ष में उसका एक साथी मारा गया। प्रताप सिंह अपने 20 साथियों के साथ पकड़ा गया और उसे धर्मशाला भागसू जेल में बंद कर दिया गया। एक कमीशन गठित कर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। कमीशन के अध्यक्ष कांगड़ा का जिलाधीश मेजर टेलर था। प्रताप सिंह तथा वीर सिंह को फांसी की सजा सुनाई गयी और दोनों को 3 अगस्त, 1857 को फांसी दी गयी। कुछ साथियों को कई-कई साल की सजा सुनाई गई। 14 अगस्त, 1857 को 3 अन्य क्रांतिकारी पुलिस यातना में मर गये। सिराज के 26 क्रांतिकारी नेताओं के मकान गिरा दिये गये। प्रताप सिंह का मकान भी ध्वस्त कर दिया गया।

इस घटना के उपरांत मेजर विलियम से उपायुक्त बहुत आतंकित तथा शंकित हो उठे। इसी महीने कुल्लू में हैजा फैल गया था। किसी स्त्री का अंतिम संस्कार कर लोग मशालों की रौशनी में घर लौट रहे थे। रात के अंधेरे में पंक्तिबद्ध चलते लोग दूर तक दिखायी दे रहे थे। घबराए अधिकारी तुरंत सैनिक टुकड़ी ले वहां गए। वास्तविकता मालूम होने पर वापस लौट गए।

दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने पर सारे देश में धर-पकड़ शुरू हुई। अपनी गिरफ्तारी से बचने के लिए श्री रासबिहारी बोस कुल्लू पहुंचे और 2 दिन श्री शिवदयाल के पास अखाड़ा बाजार में ठहरे। तीसरी रात रास्ते की जानकारी ले लाहौल चले गये। जब पुलिस को इसकी जानकारी मिली तो शिवदयाल को 6 मास तक थाने में उपस्थिति के लिए बुलाया जाता रहा।

1920 ई. में भारत में असहयोग आंदोलन चला। कुल्लू भी इससे अछूता न रहा। गांधी टोपी तथा खदर

को लोग अपनाने लगे। गोबिंद राम गांव पुजारली निरमंड तथा नाथूराम शेर दिल सरसेई निवासी ने इस आंदोलन में भाग लिया। नाथूराम कामरेड रामचंद्र के अधीन लाहौर में काम करते रहे। गोबिंद राम को 2 वर्ष तथा नाथूराम को 1 वर्ष के कारावास का दंड मिला। नाथूराम स्वतंत्रता आंदोलन पर कई बार जेल गये। उन्हें 1933 ई. में 8 मास का दंड मिला था। कुल्लू आर्य समाज की इस समय तक स्थापना हो चुकी थी। भाई परमानंद 1922 ई. में कुल्लू आये। उन्होंने लोगों को स्वतंत्रता संघर्ष में भाग लेने के लिए कहा। 1927 में कांग्रेस का अधिवेशन सुजानपुर टीहरा में हुआ। इससे पहाड़ी क्षेत्र में गतिविधियां बढ़ीं।

डांडी मार्च के पश्चात् नमक सत्याग्रह सारे देश में चला। कुल्लू में भी जलसा हुआ। पुलिस के आने से पूर्व जलसा के आयोजक भूमिगत हो गये। परंतु एक रात एक गाने के कार्यक्रम को देखते हुए इनमें से कुछ व्यक्तियों को पुलिस ने जा पकड़ा। इन्हें इस प्रकार कारावास की सज़ा सुनाई गयी।

दशहरा का उत्सव आया। इस मेले में लोग बड़ी संख्या में इकट्ठे होते हैं। ऐसे समय किसी बड़े जलसे या घटना की रोकथाम के लिए बलोच पुलिस भेजी गयी। लोगों को आतंकित करने के लिए दो थानेदार एक हवलदार तथा पंद्रह सिपाहियों की टुकड़ी अखाड़ा बाज़ार में मार्च करती हुई आई। कांग्रेस कार्यालय पर झंडा लहराते देखकर टुकड़ी रुक गयी और कांग्रेस प्रधान शिवदयाल को बुलाकर झंडा उतारने के लिए कहा गया और अभद्र व्यवहार किया। परिणामस्वरूप पुलिस के साथ दोनों बाप-बेटे भिड़ गये। वेदव्यास ने विरोध किया। शिवदयाल के सिर और कान पर चोट आयी। दोनों बाप-बेटे को पकड़ लिया गया। दोनों को सज़ा हुई। इन सब बातों का ग्रामीण अंचल में भी प्रभाव हुआ। बाहरी सिराज के कोठी बरामगढ़, नारायण गढ़ तथा धौलकोट के लोगों ने कर देना बंद कर दिया। राजस्व न देने पर 15-20 लोग बंदी बनाये गये। सरकार विरोधी गतिविधियों के लिए निरमंड के श्यामानंद कांशीराम को जुर्माना किया गया।

1937 ई. में पंजाब प्रांतीय काउंसिल के लिए चुनाव हुए जिसमें मताधिकार केवल 5 रुपये राजस्व देने वाले या मिडल शिक्षा वाले को ही था। कुल्लू से राय भगवन्त सिंह चुने गये। इनके प्रतिद्वंद्वी राजा रघुवीर सिंह

जागीरदार शांगरी थे। 1941 ई. में कांग्रेस के कार्यक्रमों को चलाने तथा संगठन दृढ़ करने के लिए नागर दास पटेल अहमदाबाद निवासी को कुल्लू भेजा गया। उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति तक नंगे पांव रहने का व्रत लिया था। वह आर्य समाज के सदस्यों के पास रहते थे। इनके प्रयत्नों से बड़ी चेतना आयी। ग्रामीण अंचलों में भी कांग्रेस संगठन बना। निरमंड तथा जगतसुख गांव के लोग अधिक सक्रिय थे। अयोध्या दास जगतसुख के पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें हथकड़ी पहना कर सारे बाज़ार में घुमाया गया था। 1942 ई. में प्रिंसिपल छबील दास के अधीन एक विशाल जलसा ढालपुर में हुआ। उसी समय जवाहर लाल नेहरू और इंदिरा गांधी के साथ निकोलाई रोरिख नगर में आये। उन्होंने अपने प्रवास के समय दो बड़ी जनसभाओं को कुल्लू तथा मनाली में संबोधित किया। भारत छोड़ो आंदोलन अभी आरंभ न हुआ था। उन्होंने लोगों को संघर्ष के लिए तैयार रहने और स्वतंत्रता के लिए सर्वस्व बलिदान के लिए कहा। भारत छोड़ो आंदोलन में नागर दास पटेल, मन्साराम तथा सर्वदयाल ने अपनी गिरफ्तारियां दी। इस समय कुल्लू के कंवर टेढ़ा सिंह एक नेता के रूप में उभर रहे थे। उसने लाहौर से वकालत पास की थी। अच्छे कवि, लेखक तथा पत्रकार थे। परंतु उनके जीवन ने उनका साथ न दिया। टेढ़ा सिंह ही ठाकुर बेलीराम को राजनीति में लाये थे।

कुल्लू के दो व्यक्ति परमानंद गांव जमद तथा मनीराम गांव दयोहरी भीतरी सिराज नेता जी की आज़ाद हिंद सेना में थे तथा लालकिले में बंदी थे।

24 जुलाई, 1930 को भीमसैन बंजार गया। एक जलसा हुआ जिसमें सोहनू, हंसू, बरागी राम, तुलसी राम, महाजन झाला, अच्छर, मेहरू, चमन, शिवराम, कीमताराम, सोहनलाल, पूर्णमल, परमा, सूरज तथा नाथ सहित करीब 300 लोग सम्मिलित हुए भीमसैन ने सभी को सरकार से असहयोग करने के लिए कहा। लोगों ने बेगार देनी बंद कर दी। कोयला, लकड़ी सब बंद कर दिये। तहसीलदार आदि के आदेशों को मानना बंद कर दिया। विद्रोह की चिंगारी गांव-गांव तक भड़की। हर जगह अंग्रेजों की मुखालफत होने लगी।

अंततः देश आज़ाद हो गया। 15 अगस्त, 1947 को देश स्वतंत्र हो गया। ढालपुर में सेवा निवृत्त तहसीलदार किशन सिंह ने झंडा लहराया। आधी रात तक बड़ी जनसभा हुई। रेडियो पर नेहरू जी का भाषण सुना गया।

छ: दिसंबर : कहीं कुछ असहज सा है

■ वसीम अख्तर

हम तो वसीम और मंजूर थे, जो आज भी हैं। उस बस्ती और फिर स्टेशन की भीड़ में हम विनोद और मोहन कैसे बन गए? किसने बनाया हमें कुछ घण्टों के लिए वसीम से विनोद और मंजूर से मोहन? फिर मैं सोचता हूँ कि गुरमीत सिंह बग्गा ने क्यों अपने बाल क्यों कटवा लिए थे 1984 के सिख विरोधी दंगों के बाद...

आज से 20 साल पहले आधुनिक भारतीय इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घटी थी। दिन था 6 दिसम्बर 1992 का। इस तिथि को अयोध्या की बाबरी मस्जिद को कारसेवकों ने ध्वस्त कर दिया था। फिर एक के बाद एक देशभर के कई शहर सांप्रदायिक दंगों की चपेट में आ गए। जो खुद को हिंदू समझते थे उन्होंने मुसलमानों को और जो खुद को मुस्लिम समझते थे उन्होंने हिंदुओं को भरसक नुकसान पहुंचाने की कोशिश की। लेकिन यह भी सच है कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा जिसमें हिंदू भी शामिल थे और मुसलमान भी, दंगा-फसाद से अलग था। सांप्रदायिकता और आतंकवाद को लेकर एक मत यह है कि दंगाइयों और आतंकवादियों का कोई मजहब नहीं होता है। इस मत की मजबूती का एहसास मुझे तब हुआ जब मैंने स्टूडेंट लाइफ के दौरान सांप्रदायिकता पर लिखी इकबाल मजीद की एक कहानी पढ़ी। उस कहानी का सार यह था कि दंगाई एक प्रेस रिपोर्टर को पकड़ लेते हैं। दंगाइयों द्वारा उस रिपोर्टर का धर्म पूछा जाता है। लेकिन प्रेस रिपोर्टर द्वारा अपना मजहब इंसानीयत बताना दंगाइयों के लिए निराशा का सबब बनता है। दंगाई इस जवाब से धर्म संकट में पड़ जाते हैं कि प्रेस रिपोर्ट के धर्म और समुदाय का पता कैसे लगाया जाय? यह पता करने के लिए वो बलपूर्वक प्रेस रिपोर्टर के कपड़े उतारते हैं। जब दंगाई प्रेस रिपोर्टर को बिल्कुल नंगा कर देते हैं तब उन्हें पता चलता है कि वह मीडिया परसन लड़का नहीं एक लड़की है। कहानी का यह सिक्वेस वास्तव में किसी को भी धर्म संकट में डाल सकता है। अपना मजहब इंसानीयत बताने वाले रिपोर्टर का मजहब बता पाना दंगाइयों के लिए असंभव हो जाता है। लेकिन दंगाई निराश नहीं होते। वो बगैर धार्मिक भेद-भाव के उस मीडिया परसन के साथ सामूहिक बलात्कार करते हैं और इंसानीयत को खुद का मजहब बताते हैं। उन्हें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि खुद का मजहब इंसानीयत बताने वाली महिला प्रेस रिपोर्ट उनके मजहब की भी तो हो सकती है।

बहरहाल, कहानी के उक्त प्रसंग का जिक्र इसलिए किया कि अमूमन दंगे के हालात समाज को दो धड़ों में बांट देते हैं। लेकिन सच्चाई यह होती है कि मंदिर और मस्जिद के नाम

पर जान देने और जान लेने वाले लोग सिर्फ उन्मादी और आतताई होते हैं। जैसा कि कहानी के दंगाई हैं। अक्सर दंगों में महिलाओं के साथ बलात्कार की घटनाएं होती हैं। दंगाइयों को मजहब से सरोकार कम और अपनी हवस को शान्त करने की फिक्र अधिक होती है। कहना नहीं होगा कि 2002 के गुजरात दंगों में भी बड़े पैमाने पर बलात्कार की घटनाएं हुईं।

दंगों के समाजशास्त्र का दूसरा सच यह है कि दंगों में बेरोजगारों के दो-दो हाथ जब हजारों की संख्या में उठते हैं तो वो किसी मंदिर की घण्टी को बजाने के लिए नहीं उठते और न ही किसी मस्जिद में अज्ञान देने के लिए उठते हैं बल्कि लूट-पाट, आगजनी और हत्या के लिए उठते हैं। काश ये हाथ रोजगार के लिए, महंगाई रोकने के लिए तथा अन्य सभी तरह की शासन-प्रशासन की विसंगतियों को दूर करने के लिए और इन सबसे अधिक शान्ति और सौहार्द के लिए उठाए जाते। सांप्रदायिक दंगों में खून चाहे जिसका भी हो, जख्म मानवता के माथे पर ही लगता है।

सितम्बर 2010 में बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवादित स्थल से संबंधित इलाहाबाद हाईकोर्ट की लखनऊ बेंच ने फैसला सुनाया। इस फैसले के आने से पहले देश व्यापी स्तर पर दंगा विरोधी तैयारियां की गयीं। महानगरों से लेकर शहरों तक, शहरों से लेकर कस्बों तक और कस्बों से लेकर गांवों तक हर जगह पुलिसिया कदमताल और सायरन की गूंजती आवाजों ने जनता को सकते में डाल दिया था। समाचारों में बताया जा रहा था, कि शरारती तत्वों को बख्शा नहीं जाएगा। यह भी बताया जा रहा था कि स्थिति पूरी तरह नियंत्रण में है। लेकिन सड़कों पर पसरा सन्नाटा विचार के अवसर भी प्रदान कर रहा था कि “रूके हुए फैसले” के सुनाए जाने की पृष्ठभूमि में क्या डर, खौफ और आतंक के अवयव होने जरूरी थे?

फैसले का अंतिम दिन 30 सितम्बर 2010 जैसे किस्से-कहानियों में होता है। कुत्ता-बिल्ली भी देखा जा सकता मुश्किल था। पुलिस बल की गाड़ियां और चीर-परिचित सायरन की आवाज़। इस दिन पावर स्प्लाई की अबाध आपूर्ति भी चौंकाने वाला नहीं था। हर कोई आसानी से समझ सकता था कि बिजली की अबाध पूर्ति का उद्देश्य लोगों को अधिक-से-अधिक समय

तक घर के अंदर टी.वी. के सामने बैठाना था। चूँकि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया मौजूदा दौर में मनोरंजन का पापूलर साधन है। इसलिए इस माध्यम का उपयोग भी भय और खौफ के माहौल को बनाने में सहायक के रूप में किया गया।

कहने को ये तैयारियाँ शान्ति की अपील का हिस्सा थीं। फैसला सुनाए जा चुकने के बाद मीडिया में इस बात पर जमकर चर्चा-परिचर्चा हुई कि 1992 के बाद की जो पीढ़ी जवान हो चुकी है उसमें सांप्रदायिक हिंसा और वैमनस्य की भावना नहीं है। यह पीढ़ी अधिक परिपक्व और समझदार है। सवाल यह है कि यदि ऐसी बात थी तो फिर शान्ति की अपील के लिए डर और खौफ का माहौल क्यों बनाया गया? क्या 2002 के गुजरात जीनोसाइड इस परिकल्पना के पोल नहीं खोलते। तो फिर सुरक्षा और शान्ति के नाम पर इतना बवाल क्यों खड़ा किया गया कि अबोध बच्चों के चेहरे की रेखाएँ भी इस बात की गवाही दे रही थीं कि कहीं कुछ न कुछ असहज सा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि ये असहजता सांप्रदायिकता की गंभीर होती चुनौतियों का संकेतक हैं?

दिनांक 22 सितम्बर, 2010 दिन बुधवार, शाम लगभग 6 बजे यकायक सदर रोड पर पुलिसिया सायरन की तेज आवाज, हर कोई उत्सुकतापूर्वक सड़क को निहारता है। नीले रंग की जीप, सफेद रंग की कार, और इन दो तरह की गाड़ियों की पीछे ढेर सारी गाड़ियों का काफिला। गाड़ियों के अन्दर बैठे अफसर, खाकी ड्रेस में पुलिस और सेना के जवान, कोई बैठा हुआ, कोई खड़ा हुआ, कुछ नकाबपोश जवान जिनके हाथों में बन्दूकें हैं, माहौल को और गंभीर कर रहे थे। गाड़ियों के ऊपर जलती-बुझती बत्तियाँ और आवाज किसी भी कारवाँ की तरह आगे निकलती जा रही थीं, अपने पीछे एक पसरा हुआ सन्नाटा छोड़ते हुए। कौतुहल लोगों की नज़र काफिले पर और काफिले की नजर लोगों पर। लोगों के अन्दर इतना साहस भी नहीं कि वो अपनी चौखटों को पार करके सड़क पर आते। दोपहर से छाए सन्नाटे के बाद का पहला मंजर था यह, कि कुछ लोगों को छतों पर देखा गया। काफिला गुजरने के बाद सब कुछ एक बार फिर शान्त हो गया।

पुलिसिया सायरन की आवाज में सन्नाटे की ऐसी गूँज मैंने पहली बार इलाहाबाद में सुनी थी, 6 दिसम्बर 1992 को। समय शाम के लगभग 8 बज रहे होंगे। नार्थ मलाका के सिद्दीकी लाज में पहली बार एहसास हुआ कि सन्नाटा क्या होता है। पुलिस का सायरन लगातार बज रहा था और इस बीच लाज के एक कमरे में सभी किराएदार छात्र इकट्ठे रेडियो पर कान लगाए हुए थे। उन दिनों बीबीसी पर प्रसारित होने वाला 7.30 बजे की बुलेटिन का छात्रों में बहुत क्रेज हुआ करता था। एक तरफ सायरन और दूसरी तरफ बीबीसी न्यूज और बन्द कमरे में रेडियो के सामने बैठे हम छात्र। उस समय फोन और मोबाइल का बेलगाम प्रचलन नहीं था, जैसा कि आज है।

रेडियो पर प्रसारित होने वाली खबरों में बार-बार बाबरी मस्जिद के विध्वंस की खबरें प्रसारित हो रही थीं। मस्जिद को ध्वस्त करने वाले कार सेवकों, सियासी लीडरों के भड़काऊ भाषणों और पत्रकारों के छत-विक्षत हुए कैमरों की बाबत खबरें भी आ रही होती हैं। रात को गुजरना था, हर दिन की तरह। सुबह होने तक इलाहाबाद के सभी संवेदनशील इलाकों में कर्फ्यू लग चुका था। हम छात्रों के मन में अनजाना खौफ था और खौफ की इस घड़ी में सुरक्षित घर पहुंचने की फिक्र भी।

7 दिसम्बर, नहीं 8 दिसम्बर को सुबह मैं और मंजूर अली अंसारी रामबाग रेलवे स्टेशन गए, ट्रेन का पता करने के लिए। हम लोग स्टेशन के पिछले गेट से प्लेटफार्म पर पहुंचे। ट्रेन का पता करने के बाद मेन गेट से वापस आ रहे थे कि रामबाग चौराहे पर यकायक तीन-चार पुलिस वाले अपना डंडा लेकर हमारी तरफ दौड़े। मुझे कोई खास चोट नहीं लगी। लेकिन मंजूर भाई की कलाई पर पुलिस की पतली छड़ी पड़ी और कलाई सूज गयी। ड्यूटी पर तैनात पुलिस वालों ने कहा “जानते नहीं बे कि कर्फ्यू लगा है।” तब जाकर हमें पता चला कि रामबाग चौराहा से मुट्ठीगंज और साउथ मलाका को जाने वाली सड़कें कर्फ्यूग्रस्त हैं। हमने एक स्वर में कहा “ट्रेन का पता करने स्टेशन गए थे। हमें मालूम नहीं था कि कर्फ्यू लगा है।” वहां से जल्दी खिसक लेने में ही हमारी भलाई थी।

अब तक समाचारों में सुना था कर्फ्यू के बारे में। आज देख भी लिया। अब समस्या थी शाम को किस मार्ग से स्टेशन पहुंचा जाए। शाम को 7.00 बजे के आस-पास एक ट्रेन थी। डरे-सहमे से हम दोनों ने जौनपुर जाने वाले रेलवे ट्रैक को सुरक्षित मार्ग के रूप में चिन्हित किया। ट्रैक से नीचे उतरकर रामबाग झुग्गी होकर स्टेशन पहुंचना था। डर और खौफ के साए में हम दोनों आगे बढ़ रहे थे। जहां लोग दिखाई दे जाते वहां हम एक दूसरे को उन नामों से पुकारते हुए आगे बढ़ते जिससे हमारी मुस्लिम पहचान छुपी रहे और रामबाग की उस बस्ती के लोग हमें भी अपनी ही बिरादरी या मजहब का समझें।

आज मैं सोचता हूँ कि नाम बदलने का बोध हमारे अन्दर कैसे विकसित हुआ। हम तो वसीम और मंजूर थे, जो आज भी हैं। उस बस्ती और फिर स्टेशन की भीड़ में हम विनोद और मोहन कैसे बन गए? किसने बनाया हमें कुछ घण्टों के लिए वसीम से विनोद और मंजूर से मोहन? फिर मैं सोचता हूँ कि गुरमीत सिंह बग्गा ने अपने बाल क्यों कटवा लिए थे 1984 के सिख विरोधी दंगों के बाद। ऐसे ही बहुत सारे सवाल हिंदुस्तान के लाखों-करोड़ों जनता के मन में आते होंगे। क्यों बाबरी ध्वस्त हुआ? क्यों मुंबई, भोपाल, मेरठ, मलियाना दंगों की चपेट में आए और क्यों गोधरा-गुजरात हुआ? आखिर क्यों? पिछले कुछ महीनों में उत्तर प्रदेश में होने वाले सांप्रदायिक तनाव और दंगे सोचने पर विवश करते हैं कि कहीं कुछ असहज सा है!

साभार : बीच बहस में

उन्हें पता था बाबरी विवाद का अंत नहीं

■ अपूर्वानंद

6 दिसंबर को भारत में दो कारणों से याद करते हैं। एक तो आज के दिन भारतीय संविधान निर्माता डॉ. आंबेडकर की मौत हुई थी।

मगर पिछले 23 साल से 6 दिसंबर दूसरे कारण से याद किया जाता है। और वह है अयोध्या में 6 दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद का गिराया जाना।

बाबरी मस्जिद का गिराया जाना भारतीय जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेतृत्व में चले एक लंबे आंदोलन का परिणाम था। ऐसा दिन-दहाड़े खुलेआम पूरी गोलबंदी के बाद किया गया।

मस्जिद को ध्वस्त करने में जो नेता शामिल थे, उन्हें आज तक इस अपराध की सजा नहीं हुई। बल्कि उनमें से एक प्रधानमंत्री हुए और दूसरे उप प्रधानमंत्री हुए और तीसरे अब प्रधानमंत्री हैं।

इससे पता चलता है कि भारत की मूल धर्मनिरपेक्ष संरचना बहुत कमजोर हो गई है। एक बहुत बड़े आपराधिक अभियान के जो एक प्रकार से मुजरिम हैं, न केवल उनको किसी तरह की सजा नहीं हो सकी बल्कि उनके हाथों में देश की बागडोर सौंप दी गई।

उनमें एक लालकृष्ण आडवाणी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि राम जन्मभूमि अभियान कोई धर्म अभियान नहीं था, बल्कि एक राजनीतिक अभियान था।

तो यह बात बहुत साफ़ थी कि राम मंदिर निर्माण के पीछे इरादा कोई हिंदू धर्महित का नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सेवकसंघ के लिए एक बड़ी राजनीतिक गोलबंदी का था। और दूसरा इसका ज़रिया यह था कि आप सामान्य हिंदुओं में से राजनीतिक हिंदू पैदा कर सकें।

राजनीतिक हिंदू बनाने के लिए एक बड़ा अभियान चलाया गया। यह अभियान 1992 से पहले से चल रहा था और 1992 में समाप्त नहीं हुआ, बल्कि उसके बाद भी लगातार चल रहा है।

इस अभियान की परिणति 2014 में देखी गई जब देश की केंद्रीय सत्ता पर भाजपा अपने बलबूते पर काबिज़ हुई।

इसलिए यह कोई उग्र हिंदुत्व को नरम करने का

मामला नहीं, बल्कि उग्र हिंदुत्व को सामान्य और स्वीकार्य बनाने का एक अभियान है, जिसमें भाजपा और आरएसएस सफल रहे हैं।

आंबेडकर के प्रतीक का इस्तेमाल क्या इसी अभियान का हिस्सा है?

बिल्कुल। क्योंकि आरएसएस के पास अपना ऐसा कोई प्रतीक नहीं जिनका वे इस्तेमाल कर सकें। इसलिए वे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतीक चुन रहे हैं। इनमें उनका मुख्य उद्देश्य है गांधी और नेहरू को उनकी मुख्य स्थिति से अपदस्थ कर देना।

ऐसा इसलिए कि गांधी और नेहरू दोनों जिस शब्द के साथ जुड़े हैं, वह शब्द है 'धर्मनिरपेक्षता'। वे इसकी केंद्रीयता को समाप्त करने के लिए जिनको भी सामने लाना पड़े, उनको ला रहे हैं।

सबसे पहले वे सरदार पटेल को लाए और सरदार पटेल को लाने के बाद उन्हें दिखाई दिया कि पिछले 30 सालों में भारत के सामाजिक वर्गों में जो वर्ग राजनीतिक रूप से सबसे ज़्यादा सक्रिय हुए हैं, वे हैं पिछड़े और दलित वर्ग।

पिछड़े, अति पिछड़े और दलित वर्गों को आप राजनीतिक हिंदू कैसे बना सकते हैं, यह उनकी रणनीति का बड़ा हिस्सा रहा है। इसके पहले ध्यान से देखें तो संघ अपनी गतिविधि आदिवासी इलाकों में विश्व हिंदू परिषद के माध्यम से सबसे ज़्यादा चलाते हैं।

पिछड़े, अति पिछड़े, दलित और आदिवासी चार तबके हैं। इनके राजनीतिक हिंदूकरण की प्रक्रिया कई साल से चल रही है और अब ये काफ़ी तेज़ हो गई है। उनके नायक आंबेडकर को हड़पने की कोशिश उसी प्रक्रिया का हिस्सा है ताकि उनके माध्यम से वो दलित जातियों, पिछड़े और अति पिछड़े के बीच खुद को स्वीकार्य बना सकें।

आंबेडकर के प्रति आजकल उनकी इतनी श्रद्धा जो उमड़ पड़ी है, वो कोई आंबेडकर की राजनीतिक विचारधारा को स्वीकार करने के कारण नहीं है। बल्कि ऐसा आंबेडकर को पूरी तरह विकृत करके हिंदू राष्ट्र की परियोजना के अंग के रूप में पेश करने की है।

भाजपा अयोध्या विवाद को किस दिशा में ले जाना चाहती है?

आरएसएस और भाजपा ने जब इस विवाद को शुरू किया था, तब भी उन्हें पता था कि इसका कभी कोई अंत नहीं होने वाला। और यही लाभकारी स्थिति है कि इसका कोई अंत नहीं हो सकता। क्योंकि भारत की एक न्यायिक प्रक्रिया है और इतनी आसानी से उसे विकृत करना संभव नहीं होगा।

यह बात उन्हें पता थी। चूंकि अभी भी उच्चतम न्यायालय के पास ये मामला है यदि मस्जिद को ध्वस्त भी कर देंगे तो भी मामला बना ही रहेगा। ये बात उन्हें पता थी। इसका कोई अंतिम बिंदु उनके सामने नहीं था और न है।

हिंदू जनता के सामने राम जन्मभूमि निर्माण को एक छलावे की तरह रखा गया कि हम ऐसा करने जा रहे हैं। लेकिन ये बात उन्हें भी अच्छी तरह पता है कि वे ऐसा नहीं कर सकते।

यह ऐसा मुद्दा था जिसे वे निरंतर जीवित रखना चाहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर इसके इर्द-गिर्द गोलबंदी कब हो सकती है इसकी संभावना को ज़िंदा रखना ही उनका उद्देश्य है।

पिछले 23 साल, बल्कि 25 में देख लीजिए कि रामजन्म भूमि का मसला अलग-अलग समय पर अलग-अलग ढंग से पेश आया है।

कुछ दिन पहले मोहन भागवत ने इस मसले को बंगाल में उठाया। उसके पहले इस मामले को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया था। उसकी जगह 'लव जिहाद' का मामला उठाया गया। फिर धर्म परिवर्तन का मामला उठाया गया। राम जन्मभूमि का मामला पीछे चला गया।

ऐसा इसलिए किया गया कि राम जन्मभूमि से जितनी गोलबंदी की जानी थी, जितना लाभ लिया जा सकता था वह एक समय तक लिया जा चुका था और अब दूसरे मसलों से लाभ लिया जाएगा।

लेकिन इसमें अभी राजनीतिक लाभ की संभावनाएं हैं। और ये ज़िंदा है, इसे फिर उठाया जा सकता है। आरएसएस और भाजपा गणना करेंगे कि इस मामले को कब उठाया जाए ताकि इसका लाभ मिले। तो इसका कोई समाधान नहीं है। भाजपा इसे कहीं नहीं ले जाना चाहती। वो इसे ज़िंदा रखना चाहती है।

यानी यह मामला जितनी देर तक अदालत में रहेगा उतना ही ये फायदेमंद साबित होगा। ऐसा इसलिए कि बाकी जितने राजनीतिक दल हैं वे उन पर लगातार दबाव बनाए रखेंगे।

उन्होंने वहां बाबरी मस्जिद गिरा दी है, वहां एक अस्थायी ढांचा बना दिया है। और अब उनका कहना है कि यहां मंदिर तो है ही।

दूसरे राजनीतिक दलों में इतना साहस नहीं कि कह सकें कि ये गैरक़ानूनी तरीके से बना है इसलिए स्वीकार्य नहीं। यहां जो मस्जिद थी, कायदे से उसे पुनर्स्थापित किया जाना चाहिए। यह कहने का साहस हमारे राजनीतिक दलों में नहीं रह गया है। इसका लाभ भी भाजपा उठा रही है। और उसने भारत की पूरी भारतीय राजनीति पर एक ज़बर्दस्त हिंदू दबाव बना दिया है।

इस हिंदू दबाव से हमारे राजनीतिक दल नहीं लड़ पाएंगे, ये एक बड़ी चुनौती है।

बाबरी मस्जिद मामला भारत के ताने-बाने पर कितना असर डालेगा?

जब हमने बाबरी मस्जिद को गिरने दिया था तभी भारत का भविष्य तय हो गया था। यह भारत के धर्मनिरपेक्ष ढांचे पर सबसे बड़ा आघात था। इससे यह साबित हो गया कि भारत की जो धर्मनिरपेक्ष राजनीति है वह अपनी रक्षा करने में गंभीर नहीं है, और सक्षम भी नहीं है।

इसने भारतीय मानस के मन में बहुत बड़ी फांक पैदा कर दी है। इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि यह अभियान खुलेआम चलाया गया। यह अभियान मुसलमानों के खिलाफ था। यह किसी एक मस्जिद के खिलाफ नहीं था। मस्जिद प्रतीक थी मुसलमानों की। मुसलमानों को सरेआम अपमानित करने के लिए ये अभियान चलाया गया। और इसमें अभियान चलाने वालों को सफलता मिली।

इस बात को भारतीय मुसलमान भुला नहीं सकते और इसे हमें भी नहीं भुलाना चाहिए।

भारत के धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने पर इस घटना ने बहुत बड़ा असर डाला है।

अब मेरी समझ ये है कि इससे हम कुछ सीख ले सकते हैं। और वह यह कि हम एक प्रकार से अस्वीकार्यता की नीति अपनाएं। उस राजनीति के प्रति, जो हिंदू गोलबंदी के आधार पर चलने की राजनीति है, हम पूरी तरह से असहनशीलता की नीति अपनाएं। तभी हम भारत के अल्पसंख्यक समुदाय, जो मुख्य रूप से मुस्लिम समुदाय है, को विश्वास दिला सकते हैं कि यह मुल्क उनका है और यहां उनकी बराबरी से इज़्ज़त है और उनको बेइज़्ज़त करने वालों की यहां कोई इज़्ज़त नहीं।

(बीबीसी संवाददाता अजय शर्मा से बातचीत पर आधारित)

मूर्खता और बुद्धिमत्ता : विज्ञान, जीएमओ और हमारा खाना

■ वंदना शिवा

‘साइंस’ शब्द, ‘सायर’ शब्द से बना है, इसका अर्थ होता है, ‘जानना’।

हम सबको पता होना चाहिए कि हम क्या खा रहे हैं, उसे कैसे पैदा किया गया है, और उसका हमारी सेहत पर क्या असर पड़ता है।

खाना उपजाने के लिए हमें जो ज्ञान चाहिए होता है, वो होता है - जैव विविधता का और उपजाऊ बीजों का ज्ञान, उर्वर मिट्टी और मिट्टी से जुड़े आहार तंत्र का ज्ञान, कृषि के पारिस्थितिकी तंत्र में पायी जाने वाली विभिन्न प्रजातियों और विभिन्न मौसमों के आपसी सम्बन्धों का ज्ञान। उन पारिस्थितिकी वैज्ञानिकों की तरह, जो सूक्ष्मजीवों और पेड़ पौधों के विकास का, पारिस्थितिकी तंत्र और मिट्टी से जुड़े आहार तंत्र का अध्ययन करते हैं, किसान भी इन मसलों के विशेषज्ञ रहे हैं।

औद्योगिक कृषि में जीवन तंत्रों के ऐसे ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। ऐसा इसलिए क्योंकि औद्योगिक कृषि कृत्रिम रूप से संचालित होने वाली एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें युद्ध में प्रयोग में लाये जाने वाले रसायनों का खेती में इस्तेमाल होता आया है। इस परिप्रेक्ष्य में मिट्टी को एक खाली मर्तबान की तरह देखा जाता है जिसे बस कृत्रिम खादों से भर दिया जाना है। साथ ही पौधों को बाहर से मिलने वाले संकेतों पर चलने वाली मशीनों के तौर पर देखा जाता है। इसका मतलब हुआ मिट्टी के नवीनीकरण, खर-पतवार और कीड़े-मकौड़ों पर नियंत्रण, और बीज की गुणवत्ता में सुधार से जुड़ी तमाम प्रविधियों को सिरे से नकार देना। यह परिप्रेक्ष्य इन सारे पारिस्थितिकीय इंतज़ामों और तरकीबों का, जिन्हें किसानों और प्रकृति ने गहरी पारस्परिकता के साथ विकसित किया है, गहरा अवमूल्यन करता है।

इन स्वयं संगठित, स्वयं अनुरक्षित, स्वयं नवीनीकृत और स्वयं विकसित होते रहने वाले अंतर्सम्बन्धी तंत्रों का जटिल ज्ञान जो किसानों के पास हमेशा से रहा है अब पारिस्थिकी विज्ञान में हो रहे नूतन शोधों से सही प्रमाणित हो रहा है। जहाँ तक कृषि तंत्रों की बात है, कृषि-पारिस्थितिकी का दृष्टिकोण नाकि औद्योगिक खेती का दृष्टिहीन और यांत्रिक प्रतिमान ही खाद्य उत्पादन का सबसे वैज्ञानिक तरीका है।

जहाँ तक जीवों की बात है, एपीजेनेटिक्स के नये अनुशासन और नई खोजों से यह बात सामने आई है कि कोशिकाएं हमेशा एक दूसरे से संवाद में रहती हैं। इससे जीवन को संवाद और प्रज्ञा की तरह देखने का एकदम नया प्रतिमान उभरता नज़र आ रहा है। इससे यह भ्रम मिटता है कि जीवन व्यवस्थाएं, मशीन की तरह संकलित और संयोजित मृत व्यवस्थाएं होती हैं।

पर हालिया दौर में केवल एक तरह के ज्ञान को विज्ञान का दर्जा दिया गया है। यानि उस यांत्रिक और चीज़ों को अपने हिसाब से कांट-छांट देने वाले ज्ञान को जो जगत को एक मशीन की तरह देखता है और किसी भी व्यवस्था या तंत्र को उसके हिस्सों में तोड़कर उसका अध्ययन करता है।

जटिलता और अंतर्सम्बन्धता के उभरते हुए विज्ञानों ने यांत्रिक रूढ़िवादिता के खोखलेपन और उसके कारण फैले अज्ञान को उजागर कर दिया है। क्योंकि जीवन व्यवस्थाएं स्वयं संगठित जटिलताएं होती हैं ना कि कोई मशीन इसलिए किसी एक हिस्से को निकालकर, पूरी व्यवस्था के साथ उसके संबंधों को दरकिनार कर उसका अध्ययन करना अज्ञान या उस विषय में कुछ नहीं जानने के बराबर है।

यह ज्ञानशास्त्रीय हिंसा, कॉर्पोरेटी हिंसा के साथ मिलकर अन्य सभी वैज्ञानिक परम्पराओं का दमन कर रही है। इन वैज्ञानिक परम्पराओं में वे परम्पराएँ भी शामिल हैं जो पश्चिमी विज्ञान के भीतर से ही विकसित हुई हैं और एक यांत्रिक जीवन दृष्टि से परे जाने का प्रयास करती रही हैं।

इस तरह से औद्योगिक कृषि दरअसल एक विज्ञान विरोधी विज्ञान बनती जा रही है।

जिस तरह से बीज के नैसर्गिक स्वभाव का इस विज्ञान ने दमन किया है उससे उपरोक्त बात और भी प्रकट रूप से स्पष्ट होती है। बीज दरअसल एक स्वयं संगठित प्रज्ञा - जो लगातार विकसित होती रहती है, फैलती है, नए-नए रूप ग्रहण करती है - के उदाहरण होते हैं। किसानों और विशेषकर औरतों ने अपनी मेधा और बीज की सहज बुद्धि के मेल की वजह से प्रजनन को हमेशा सह-सृजन के रूप में समझा है। इसी वजह से वे जंगली पौधों को उपयोग योग्य बना पाये और साथ ही विभिन्न जलवायु और संस्कृतियों के हिसाब से विभिन्नता को बढ़ावा दे पाये। इसने ना केवल पोषण को बढ़ावा दिया बल्कि स्वाद को भी सुरुचिपूर्ण बनाया और प्रतिरोधक क्षमता को भी बढ़ाया। इस तरह से वे किसान बीज में ही निहित संभावनाओं को विस्तार दे पाये। बीजों को पारिस्थितिकीय और सामाजिक आधार पर हमेशा विकसित और बेहतर किया जाता रहा।

जीवन तंत्रों में हस्तक्षेप करने का और बीज आपूर्ति को बेहतर बनाने का विमर्श तथाकथित ‘उन्नत बीज’ की धारणा का हवाला देता है। पर जो बात साफ़ तौर पर नहीं बताई जाती वह यह की ये बीज ‘उन्नत’ केवल इस अर्थ में है की उनकी रसायनों पर निर्भरता बढ़ जाती है और उन पर निगमों का नियंत्रण बढ़ता जाता है।

औद्योगिक कृषि के इस विज्ञान विरोधी विमर्श ने आजकल हर बहस को बस ‘जीएमओ’ के जुमले तक सीमित कर दिया है।

जेनेटिक इंजीनियरिंग का उपयोग बीज को कॉपीरेंट 'अविष्कार' के रूप में दिखाने के लिए और पेटेंट और रॉयल्टी बटोरने के लिए किया जा रहा है। भारत के कपास क्षेत्र में किसान आत्महत्या का कारण किसानों से रॉयल्टी के नाम पर भारी मुनाफ़ा उगाहने से सीधे-सीधे जुड़ा हुआ है। इसमें कोई दो राय नहीं कि यह स्पष्ट रूप से अवैध है क्योंकि मोनसैंटो के पास कभी भी बीटी कपास का पेटेंट नहीं था।

इसका दावा ठोका जाता है की 'जीएमओ' या जैव संवर्धित फसलों से खाद्य उत्पादन बढ़ जाएगा पर यह बात भुला दी जाती है कि कभी भी तकनीक से पैदावार बेहतर नहीं हो सकती।

यह भी दावा किया जाता है कि जेनेटिक तकनीक एक सटीक तकनीक है। पर यह इन चार बुनियादी कारणों की वजह से गलत है - पहला यह कि जेनेटिक तकनीक इस गलत प्रस्थापना पर टिकी है के एक जीन से एक ही लक्षण पैदा होता है। दूसरा यह कि यह तकनीक इतनी लचर है की बाहर से प्रतिरोधक क्षमता वाले एंटी-बायोटिक जीन, पौधे में छोड़े जाते हैं यह देखने के लिए की इक्षित जीन पौधे की कोशिका में सफलता पूर्वक डाली जा सकी है या नहीं। साथ ही इक्षित लक्षणों को बढ़ावा देने के लिए पौधे में उग्र वायरस भी डाले जाते हैं। तीसरा यह कि ये जीन चूँकि असम्बद्ध जीवों से लिए जाते हैं और साथ ही इनमें बैक्टीरिया और वायरस के जीन भी होते हैं, इसके कारण उन जीवों और पारिस्थितिकी तंत्र पर इनके प्रभावों के बारे में कुछ भी पहले से ज्ञात नहीं होता, जिनमें ये डाले जाते हैं। इसलिए जैव-सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए कई अनुशासनों और विज्ञानों की ज़रूरत पड़ती है। साथ ही जैव-विविधता संरक्षण समझौते पर कार्टाजेना प्रोटोकॉल नाम का संयुक्त राष्ट्र संघ का अंतर्राष्ट्रीय कानून भी है ताकि जैव सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके।

चौथा यह कि ये अवैज्ञानिक दावा की 'जीएमओ' तकनीक सटीक होती है और चयन आधारित एवं पारम्परिक प्रजनन तकनीकों से बेहतर होती है पूरी तरह से निराधार है क्योंकि ये उद्विकास में सक्रिय, पौधों और किसानों की मेधा को पूरी तरह से नज़रअंदाज़ कर देता है। बल्कि जिस तरह से बैक्टीरिया द्वारा एंटीबायोटिक्स के विरुद्ध प्रतिरोधक क्षमता विकसित की गयी है वो इस बात को दिखाता है कि किस तरह से बैक्टीरिया ने यह दबाव झेला है और वे भी सजग और सचेत जीवन के उदहारण हैं। बैक्टीरिया, सजग और बुद्धिमान जीवों की तरह, खुद को एंटीबायोटिक से लड़ते हुए पुनर्निर्मित और विकसित कर रहे हैं। जिस तरह से बीटी टॉक्सिन की प्रतिक्रिया में ताकतवर कीटाणुओं का उदय हुआ है और 'जीएमओ' में पाये जाने वाले राउंड अप यौगिक की प्रतिक्रिया में ताकतवर खर-पतवार पैदा हुए हैं वह पौधों और कीटाणुओं की प्रज्ञा की ओर इशारा करता है और उन यौगिकों से उनकी लड़ने की क्षमता को दिखाता है, जो उन्हें मारने के लिए बनाये गए हैं। पर यांत्रिक लघुकरण की विचारधारा मनुष्य की और अन्य प्रजातियों की बुद्धि और सहज जीवन वृत्ति को सिरे से नज़रअंदाज़ करती आई है।

'इंटेलिजेंस' शब्द लैटिन के इंटर लेग्री से बना है जिसका अर्थ होता है - 'चुनाव'। पंकिल फफूंदी और बैक्टीरिया से पेड़-पौधों और

जानवरों तक बुद्धि या प्रज्ञा का मतलब वो चुनाव है जो बदलते परिवेश के सन्दर्भ में जीव-जंतु करते हैं। जीवन एक संज्ञानात्मक तंत्र होता है, जहाँ लगातार संवाद एक ढाँचे में, सम्बन्धों के अंतरंग तंत्र के रास्तों पर होता रहता है। जीवित प्राणी पर्यावरण की चुनौतियों से झूझते हुए लगातार परिवर्तित होते रहते हैं और नए-नए रूप ग्रहण करते रहते हैं। जैसाकि विकासीय जीव-विज्ञान के अध्येता लेवन्टिन कहते हैं, 'एक जीवित प्राणी का यह लक्षण होता है कि वह बाहरी कारकों से निष्क्रियतापूर्वक प्रभावित होने के बजाये सतत प्रक्रियाशील होता है। एक जीव का जीवन कई सारे रास्तों और बदलावों से होकर गुजरता है'।

एक प्रजाति के रूप में, पर्यावरण के संकटों से जूझने में हम पंकिल फफूंदी और बैक्टीरिया जैसी बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दे रहे हैं। हमारी बुद्धि पर पड़ा सबसे पड़ा पर्दा हमारी यह धारणा है कि हम जीवन से तरंगित होती धरती को निर्जीव पदार्थ समझ बैठे हैं जिसे मनुष्य द्वारा नियंत्रित किये जाने के लिए, प्रभुत्व बढ़ाने के लिए, असीम लालच के लिए किसी भी हद तक उसका दोहन किया जा सकता है।

फ़िलहाल इस वक्त हम जिस दौराहे पर खड़े हैं हमें ज़रूरत है कि हम इस यांत्रिक विचारधारा से आगे जाने की सोचें साथ ही उस दोहन की मानसिकता से भी जो न केवल जीव-जंतुओं से खिलवाड़ करती है बल्कि ज्ञान से भी।

यह दावा किया जाता है कि 'जीएमओ' में पाया जाने वाला बीटी टॉक्सिन अपने आप गल जाता है जबकि यह पाया गया है की गर्भवती महिलाओं के खून में और भ्रूण में यह जीवित बच जाता है। यह दावा भी किया जाता है कि राउंड अप तृणनाशक कीट से लड़ने के लिए तैयार की गई राउंड अप रेडी फसल मनुष्यों के लिए हानिकारक नहीं होती क्योंकि मनुष्यों में बैक्टीरिया आदि के पनपने के लिए आवश्यक शिकीमेट रास्ता नहीं होता। यह सरासर अवैज्ञानिक, बल्कि हिंसक रूप से मूर्खतापूर्ण बात है। हमारे शरीर में नब्बे प्रतिशत से अधिक जेनेटिक सूचना का स्रोत हम खुद नहीं बैक्टीरिया होते हैं और बैक्टीरिया में शिकीमेट रास्ता होता है। उपरोक्त फसलों से हमारी अंतर्दियों में पाये जाने वाले बैक्टीरिया मर रहे हैं और इससे भयानक महामारियों को न्योता मिल रहा है। इससे पेट की भी बीमारियां बढ़ रही हैं और अल्ज़ाइमर और आटिज़्म जैसे न्यूरोलॉजिकल विकारों में भी बढ़ोत्तरी हो रही है। मिट्टी, आँतें, और मस्तिष्क एक अंतर सम्बद्ध जैव इकाई बनाते हैं- किसी एक हिस्से से छेड़छाड़ करने पर पूरी अंतर सम्बद्ध इकाई के साथ छेड़छाड़ होती है। यूएस सेंटर्स फॉर डिजीज़ कंट्रोल डेटा ये दिखाता है की मौजूदा दर के हिसाब से आने वाले कुछ दशकों में अमरीका में हर दूसरा बच्चा आटिज़्म का शिकार होगा। एक बुद्धिमान प्रजाति विज्ञान की विकृत और हिंसक समझ के चलते खुद अपना भविष्य नष्ट नहीं करती।

आइंस्टीन ने शायद ठीक ही कहा था, 'दो चीज़ें अनंत होती हैं : ब्रह्माण्ड और मनुष्य की मूर्खता; और मैं ब्रह्माण्ड के बारे में निश्चित नहीं हूँ'।

‘पतरा’ नहीं ‘अंचरा’ का परब है छठ

■ चंदन श्रीवास्तव

छठ की कथा नहीं हो सकती, उसके गीत हो सकते हैं। गीत ही छठ के मंत्र होते हैं। छठ के गीतों में अपना कंठ मिलाइए, तो छठ का मर्म मालूम होगा। कथा का क्या है, सुनने वाले का मान रखने के लिए चाहे जितनी बना लीजिए। कह लीजिए कि जितने पुराने हैं वेद, उतनी ही पुरानी है छठ पूजा। पंडित बन कर ‘पोथी’ निकालिए और छठ-पर्व को लेकर 1990 के बाद से पत्रकारों के बीच बढ़ आयी रुचि को रिझाने-बुझाने के लिए कहिए - ऋग्वेद में आया है, ‘सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च’। सूर्य जगत की आत्मा है और छठ सूर्योपासना का ही लोकप्रचलित रूप है।

अपने इस वाक्य को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए कुछ पुराण-प्रसंगों के पन्ने पलटिए। ग्लोबल गांव कहलाती दुनिया के भीतर पूरब के साकिनों को कॉस्मोपॉलिटन और छठपूजा को विश्वव्यापी साबित करने को आतुर पत्रकारों को कथा सुनाइए कि ‘कृष्ण के बेटे शाम्ब को बड़ा अभिमान था अपने शरीर-बल पर। कठोर तप से कृशकाय ऋषि दुर्वासा कृष्ण से मिलने पहुंचे, तो शाम्ब को हंसी आयी कि देह है या कांटा। और, शाम्ब को ऋषिमुख से श्राप मिला - जा, तेरे शरीर को कुष्ठ खाये।

शाम्ब को रोग लगा, दवा काम न आयी, तो किसी ने सूर्याराधन की बात बतायी। शाम्ब रोगमुक्त हुआ और तभी से काया को निरोगी रखने के लिए सूर्यपूजा मतलब छठपूजा की रीत चली। शाम्ब की कथा से संतोष ना हो तो राम कथा सुनाइए कि लंका-विजय और वनवास के दिन बिता कर राम जिस दिन अयोध्या लौटे उस दिन अयोध्या नगरी में दीये जले, पटाखे फूटे, दीवाली हुई। वापसी के छठवें दिन यानी कार्तिक शुक्ल षष्ठी को रामराज की स्थापना हुई। राम और सीता ने उपवास किया, सूर्य की पूजा की, सप्तमी को विधिपूर्वक पारण करके सबका आशीर्वाद लिया और तभी से रामराज स्थापना का यह पर्व छठ अस्तित्व में आया।

पंडितजी की पोथी से निकली कोई भी कथा हो, छठ की प्रभा और पवित्रता के आगे वह कथा फीकी और ओछी है। छठ की कथा पंडितजी के पतरा से कम पंडिताईन के अंचरा से ज्यादा निकलती है। पंडितजी की पोथी से ज्यादा अविश्वसनीय कोई और चीज है भी भला? पोथी का नाम एक बना रहता है, मगर पन्ने बदलते जाते हैं, उसके पन्नों में एक कथा को धकिया कर दूसरी आन खड़ी होती है

और इस दूसरी को भी हटाने के लिए कोई तीसरी कथा अपनी कोहनी भिड़ाये रहती है- जितने स्वार्थ उनको जायज ठहराने की उतनी ही कथाएं! ज्यादातर कथाओं में दंड और पुरस्कार, स्तुति और निंदा, श्राप और वरदान का शक्ति-संधानी खेल चलता रहता है। और यह भी सच है कि ‘पंडिताईन के अंचरा’ से ज्यादा सच्ची कोई शय इस दुनिया में हो ही नहीं सकती, क्योंकि पंडिताईन के अंचरा में कथाएं नहीं होतीं, वहां गीत होते हैं। पंडितजी के पतरा का एकदम से विलोम है पंडिताईन का अंचरा। पोथी दुनिया भर में पसरना चाहती है, उसके भीतर ज्ञान का घमंड और विश्वविजयी होने की आकांक्षा होती है। शायद इसलिए पोथी से केहुनीमार कथाएं निकलती हैं। अंचरा को अपनी हैसियत भर की दुनिया से संतोष होता है, इस संतोष के भीतर होता है अपने नेह-नातों को एक साथ समेट कर रखने की उम्मीद। शायद इसलिए पंडिताईन के अंचरा में करुण गीत गूंजते हैं। पोथी को चाहिए आंखें, जो हमेशा आगे ही देखती हैं, उनसे पीछे देखना नहीं हो पाता। गीत को चाहिए कंठ, क्योंकि कंठ अगले और पिछले सबको समान रूप से पुकार लेता है।

छठ के गीतों में ना जाने किस युग से एक सुग्गा चला आता है, यह सुग्गा केले के घोंद पर मंडराता है, झूठिया देता है, धनुख से मार खाता है। एक सुग्गी चली आती है। वह वियोग से रोती है - ‘आदित्य होखीं ना सहाय।’ इस सुग्गे के हजार अर्थ निकाल सकते हैं आप, लेकिन जिस भाषा का यह गीत है, वहां सुग्गा शहर कलकत्ता बसने के बाद से एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। याद करें महेंदर मिसिर को - ‘पिया मोरा गइले रामा पुरूबी बनिजिया से देके गइले ना, एगो सुग्गा खेलवना राम से देके गइले ना।’ गीत में ऊपर की ओर चढ़ता विरह आखिर को बोल देता है - ‘एक मन करे सुग्गा धई के पटकती से दोसर मनवा ना, हमरा पियवा के खेलवना से दोसर मनवा ना।’ लेकिन गीत के आखिर में यही सुग्गा नेह की डोरी को टूटने से बचा लेता है - ‘उड़ल उड़ल सुग्गा गइले पुरूबवा से जाके बइठे ना, मोरा पिया के पगरिया से जाके बइठे ना...’ पिया पगड़ी को उतार कर सुग्गा को अपनी जांघ पर बैठा लेते हैं- ‘पूछे लगले ना, अपना घरवा के बतिया

शेष पृष्ठ 23 पर

कार लोन १० प्रतिशत, फसल पर कर्ज १६ प्रतिशत

■ अजय शर्मा

अगर आप नई कार या घर खरीदने के लिए कर्ज चाहते हैं तो आपका काम घर बैठे हो सकता है। अगर आप किसान हैं और फसल के लिए सरकारी बैंक से कर्ज चाहते हैं तो आपको वो पापड़ बेलने पड़ेंगे कि आप शायद दोबारा इस बारे में सोचेंगे भी नहीं। सरकारी वादे एक तरफ लेकिन असलियत ये है कि कार के लिए कर्ज पर आप उस किसान से कम ब्याज देते हैं जो अपनी फसल पर कर्ज लेता है।

शहरी बनाम काश्तकार

इसका पता मुझे महाराष्ट्र में जालना के किसान जनार्दन पिंपले से मुलाकात के बाद चला। जनार्दन किसान के साथ ही डॉक्टर भी हैं और उन्होंने पहले कार खरीदने के लिए लोन लिया, फिर अपनी फसल पर। दोनों कर्ज हासिल करने के दौरान उन्हें पता चला कि बैंकों के सामने किसान और शहरी भारतीय एक समान नहीं।

डॉक्टर जनार्दन ने नवंबर 2012 में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया से कार के लिए ऋण लिया, जो उन्हें 10 फीसदी की दर पर मिला। उसी बैंक से 2014 में उन्होंने कम अवधि वाला कृषि ऋण लिया जो उन्हें छह महीने के लिए 13.15% प्रतिवर्ष की दर पर मिला।

कार लोन का अप्रैल 2012 से नवंबर 2012 के बीच का बैंक स्टेटमेंट और एग्रीकल्चर लोन के लिए अप्रैल 2014 से जून 2014 के बीच का बैंक स्टेटमेंट देखकर कोई भी इसे आसानी से समझ सकता है।

एक और खास बात, फसल पर कर्ज लेने के बाद उन्हें इंस्पेक्शन चार्ज के नाम पर एक बार 1,073 रुपए और फिर दूसरी बार 1,326 रुपए देने पड़े। इसके अलावा उनसे अकाउंट कीपिंग फीस भी वसूली गई। और यहीं तक बात नहीं रुकती। इंस्पेक्शन चार्ज और अकाउंट कीपिंग फीस के पैसे पर भी उन्हें ब्याज चुकाना पड़ा।

सब्सिडी बेमानी

जनार्दन के मुताबिक नो ड्यूज और डॉक्यूमेंटेशन चार्ज के नाम पर ये खर्च तकरीबन 2000 रुपए और आया। चूंकि फसल के लोन पर बीमा ज़रूरी है तो इसके लिए उन्होंने 3000 रुपए और दिए।

जनार्दन कहते हैं कि हॉटीकल्चर लोन पर 3 लाख 30 हजार का कर्ज लेने पर सरकार की ओर से एक लाख 32 हजार रुपए सब्सिडी मिलती है पर सवा 13 फीसदी की ब्याज देने पर ये सब्सिडी असल में बेमानी साबित होती है।

उनके मुताबिक, “अगर आप शहरवासियों के 10 फीसदी और किसान के सवा 13 फीसदी के कर्ज के बीच अंतर की पड़ताल करेंगे तो सात साल के लोन का ब्याज सब्सिडी के भी ऊपर जा रहा है तो सरकार किसान पर कोई अहसान नहीं कर रही है। सवा तीन फीसदी उसे ज्यादा ब्याज का भुगतान करना पड़ रहा है। तो ये कैसी नीति है। पहले ज्यादा ब्याज मांगते हैं और फिर सब्सिडी देकर उन्हें उल्लू बनाते हैं। किसान क्यों नहीं खुदकुशी करेगा।”

जनार्दन के मुताबिक होम या कार लोन लेते वक्त इंस्पेक्शन चार्ज नहीं लगाते हैं। मगर किसान की फसल के लिए मुआयना करते हैं। किस चीज़ का मुआयना करते हैं। क्रॉप लोन छह महीने का रहता है तो 1300-1400 रुपए लगाते हैं। वह कहते हैं कि अगर ये अतिरिक्त चार्ज और उन पर ब्याज जोड़ लें तो कम अवधि वाले कर्ज के लिए उन्हें 16.5% तक ब्याज चुकाना पड़ा।

क़ानूनों का मकड़जाल

किसान को कम अवधि वाले फसल कर्ज पर आम शहरी के मुकाबले ज्यादा कागज़ी कार्रवाई करनी पड़ती है, ज्यादा ब्याज देना होता है, कई तरह के चार्ज देने पड़ते हैं, जो कई बार चक्रवृद्धि ब्याज की शक्ति ले लेते हैं।

संवेदना यात्रा के संयोजक योगेंद्र यादव कहते हैं, “कागज़ पर भारत सरकार की नीतियां बहुत अच्छी हैं। नीतियां कहती हैं कि किसान को सस्ती दर पर कर्ज दिया जाएगा। पहले तो किसान को आसानी से कर्ज मिलता नहीं। दूसरे किसान से वो-वो कागज़ मांगे जाते हैं जिनकी आवश्यकता ही नहीं। मजबूर किसान से अगर कोई बैंक मैनेजर तरह-तरह के कागज़ मांगता है तो क्या किसान सुप्रीम कोर्ट जाएगा इसकी शिकायत करने के लिए। जब किसान बैंक में जाता है तो न तो वो बैंक के क़ानून जानता है न उससे अच्छा व्यवहार होता है और न इज्जत मिलती है।”

अकाल की दहलीज़ पर बैठे किसान के लिए कर्ज, ब्याज और क़ानूनों का मकड़जाल उस लाठी की तरह है जो उसकी चमड़ी तक छील लेता है और उसे दोबारा उठने नहीं देता।

योगेंद्र यादव के नेतृत्व में हुई इस संवेदना यात्रा के दौरान मैं जिन राज्यों में पहुँचा वहां किसानों के लिए सरकारी साहूकार भी विलेन की तरह दिखे।

साभार : वीबीसी

गाय के नाम पर जनतंत्र वध

■ सुभाष गाताडे

हिंगोनिया गोशाला, जयपुर के प्रभारी मोहिउद्दीन चिंतित हैं। जयपुर म्युनिसिपल कॉरपोरेशन द्वारा संचालित इस गोशाला में नौ हजार से अधिक गायें रखी गई हैं। इनमें 30 से 40 गायें लगभग हर रोज मर रही हैं, मगर कोई देखने वाला नहीं है। वहां न इनके खाने-पीने का सही साधन है, न ही बीमार गायों के इलाज का कोई उपाय। लिहाजा, 200 से अधिक कर्मचारियों वाली इस गोशाला में गायों की मौत पर काबू नहीं हो पा रहा है। वैसे, एक अखबार के मुताबिक अप्रैल में अकेले जयपुर शहर में हर रोज 90 गायों की मृत्यु हुई, जिनकी लाशें हिंगोनिया भेज दी गईं।

याद रहे, राजस्थान देश का पहला राज्य है जहां स्वतंत्र गोपालन मंत्रालय की स्थापना की गई है। लेकिन जयपुर में प्रति माह 2,700 गायों की मौत के बावजूद इस मसले पर मंत्री महोदय कुछ भी कर नहीं पाए। दरअसल असली मामला बजट का है। मोदी सरकार ने सामाजिक क्षेत्रों की सब्सिडी में जबर्दस्त कटौती की है, जिसका असर पशुपालन, डेयरी तथा मत्स्यपालन विभाग पर भी पड़ा है। पिछले साल की तुलना में इस साल 30 फीसदी की कटौती की गई है।

गायों की दुर्दशा - अध्ययन बताते हैं कि गायों की असामयिक मौत का मुख्य कारण उनका प्लास्टिक खाना है। यह बात दिल्ली के तत्कालीन मुख्यमंत्री साहिब सिंह वर्मा ने लगभग बीस साल पहले बताई थी और यह कहने के लिए उन्हें 'परिवारजनों' की नाराजगी झेलनी पड़ी थी। पिछले दिनों जयपुर में आयोजित कला प्रदर्शनी में एक प्रतिभाशाली कलाकार ने इसी बात को अपने इंस्टालेशन के जरिए उजागर करना चाहा और प्लास्टिक की गाय वहीं परिसर में लटका दी। प्रदर्शनी में शामिल तमाम लोग अन्य कलाकृतियों की तरह उसे भी निहार रहे थे, मगर प्लास्टिक की गाय को लटका देख शहर के स्वयंभू गोभक्तों की भावनाएं आहत हो गईं। उन्होंने न केवल प्रदर्शनी में हंगामा किया बल्कि पुलिस बुलवा ली, जिसने कलाकार एवं प्रदर्शनी के आयोजक दोनों को थाने ले जाकर प्रताड़ित किया। जब इस मसले को लेकर मीडिया में हंगामा हुआ, देश-विदेश के कलाप्रेमियों ने आक्रोश व्यक्त किया तो राज्य सरकार को कुछ दिखावटी कार्रवाई करनी पड़ी।

राज्य में कहीं भी छापा मार कर गायों को जब्त करने वाले इन गोभक्तों को इस बात से कोई मतलब नहीं कि हिंगोनिया में रोज दसियों गायें दम तोड़ रही हैं। उनके दिमाग में यह बात नहीं आती कि गोशालाओं के लिए संसाधन जुटा दें। हां, समय-समय पर 'जब्त' गायों को वे उसी खस्ताहाल गोशाला में जरूर पहुंचा देते हैं। कानून के राज को ठेंगा दिखा कर की जा रही ऐसी वारदातों ने देशव्यापी शक्ति ले ली है। आप बीफ का हौवा खड़ा करके या गोवंश को अवैध

ढंग से ले जाने का आरोप लगा कर किसी वाहन पर हमला कर सकते हैं, गाड़ी के चालक और मालिक को पीट सकते हैं।

ज्यादा दिन नहीं हुए जब हरियाणा के पलवल में मांस ले जा रहे एक ट्रक पर स्वयंभू गोभक्तों की ऐसी ही संगठित भीड़ ने हमला कर दिया। अफवाह फैला दी गई कि उसमें गोमांस ले जाया जा रहा है। पूरे कस्बे में दंगे जैसी स्थिति बन गई। पुलिस पहुंची और उसने चालक और मालिक पर कार्रवाई की। ऐसी कार्रवाइयों को ऊपर से किस तरह शह मिलती है, इसका सबूत दूसरे दिन ही मिला, जब सरकारी स्तर पर ऐलान हुआ कि गोभक्तों के नाम पर पहले से दर्ज मुकदमे वापस होंगे। दिलचस्प बात है कि गोभक्ति की कोई परिभाषा नहीं है। देश में जैसा माहौल बना है उसमें बिसाहड़ा (दादरी) में अखलाक के घर पर पहुंचा आततायियों का गिरोह भी गोभक्त है और उधमपुर में किसी ट्रक में पेट्रोल बम फेंक कर किसी निरपराध को जिंदा जलाने वाले भी। मई में राजस्थान के ही नागौर जिले के बिरलोका गांव में अब्दुल गफ्फार कुरैशी नामक मीट विक्रेता को पीट-पीट कर मार देने वाले हत्यारे भी गोभक्त ही हैं, जिन्होंने उसे इसी आशंका में मार दिया था कि वह भविष्य में बीफ बेच सकता है।

मनुष्य की तुलना में एक चौपाये जानवर को महिमामंडित करने में दक्षिणपंथी संगठनों के मुखपत्रों को कोई गुरेज नहीं है। याद करें कि झज्जर में 2003 में जब मरी हुई गायों को ले जा रहे पांच दलितों को जब पीट-पीट कर ऐसे ही गोरक्षा समूहों की पहल पर मारा गया था, तब इंसानियत को शर्मसार करने वाले इस वाक्ये को लेकर इन्हीं संगठनों के एक शीर्षस्थ नेता का बयान था कि पुराणों में इंसान से ज्यादा अहमियत गाय को दी गई है। पिछले दिनों दादरी की घटना के बाद भी इनके मुखपत्र में उसी किस्म के आलेख प्रकाशित किए गए।

फिसलन भरा रास्ता - गाय के नाम पर जनतंत्र के तमाम मूल्यों को ताक पर रख कर फैलाई जा रही यह हिंसा पाकिस्तान में ईशनिंदा के नाम पर फैलाई जा रही संगठित हिंसा की याद ताजा करती है। जिस तरह पाकिस्तान में ईशनिंदा का महज आरोप लगाना ही काफी होता है, बाकी जलाने फूंकने, मारने का काम आहत भावनाओं की भरपाई के नाम पर उग्र इस्लामिस्ट समूह खुद करते हैं या करवाते हैं। वही हाल भारत में अब गाय को लेकर देखा जा रहा है। यहां भी महज हंगामा करना काफी है। उन सबको, जो गोरक्षा या गोभक्ति के नाम पर की जा रही हिंसा को सही ठहरा रहे हैं या उसकी तरफ अपनी आंखें मूंदे हुए हैं, याद रखना चाहिए कि यह फिसलन भरा रास्ता भारत को दूसरा पाकिस्तान बनने की तरफ ले जा रहा है। पर क्या पता, वे यही चाहते भी हों!

विद्यार्थी और राजनीति

■ भगत सिंह

जब पूरा देश ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ रहा था, कुछ नेता ऐसे भी थे जो विद्यार्थियों को राजनीति में हिस्सा न लेने की सलाह देते थे। इस सलाह के जवाब में भगत सिंह ने यह महत्वपूर्ण लेख लिखा था, जो जुलाई, 1928 में 'किरती' में छपा था।

इस बात का बड़ा भारी शोर सुना जा रहा है कि पढ़ने वाले नौजवान (विद्यार्थी) राजनीतिक या पॉलिटिकल कामों में हिस्सा न लें। पंजाब सरकार की राय बिल्कुल ही न्यारी है। विद्यार्थी से कॉलेज में दाखिल होने से पहले इस आशय की शर्त पर हस्ताक्षर करवाए जाते हैं कि वे पॉलिटिकल कामों में हिस्सा नहीं लेंगे। आगे हमारा दुर्भाग्य कि लोगों की ओर से चुना हुआ मनोहर, जो अब शिक्षा-मंत्री है, स्कूलों-कॉलेजों के नाम एक सर्कुलर या परिपत्र भेजता है कि कोई पढ़ने या पढ़ाने वाला पॉलिटिक्स में हिस्सा न ले। कुछ दिन हुए जब लाहौर में स्टूडेंट्स यूनियन या विद्यार्थी सभा की ओर से विद्यार्थी-सप्ताह मनाया जा रहा था। वहां भी सर अब्दुल कादर और प्रोफेसर ईश्वरचंद्र नंदा ने इस बात पर जोर दिया कि विद्यार्थियों को पॉलिटिक्स में हिस्सा नहीं लेना चाहिए।

पंजाब को राजनीतिक जीवन में सबसे पिछड़ा हुआ कहा जाता है। इसका क्या कारण हैं? क्या पंजाब ने बलिदान कम किए हैं? क्या पंजाब ने मुसीबतें कम झेली हैं? फिर क्या कारण है कि हम इस मैदान में सबसे पीछे हैं? इसका कारण स्पष्ट है कि हमारे शिक्षा विभाग के अधिकारी लोग बिल्कुल ही बुद्धू हैं। आज पंजाब कौंसिल की कार्रवाई पढ़कर इस बात का अच्छी तरह पता चलता है कि इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा निकम्मी होती है और फिजूल होती है, और विद्यार्थी-युवा जगत अपने देश की बातों में कोई हिस्सा नहीं लेता। उन्हें इस संबंध में कोई भी ज्ञान नहीं होता। जब वे पढ़कर निकलते हैं तब उनमें से कुछ ही आगे पढ़ते हैं, लेकिन वे ऐसी कच्ची-कच्ची बातें करते हैं कि सुनकर स्वयं ही अफसोस कर बैठ जाने के सिवाय कोई चारा नहीं होता। जिन नौजवानों को कल देश की बागडोर हाथ में लेनी है, उन्हें आज अक्ल के अंधे बनाने की कोशिश की जा रही है। इससे जो परिणाम निकलेगा वह हमें खुद ही समझ लेना चाहिए। यह हम मानते हैं कि विद्यार्थियों का मुख्य काम पढ़ाई करना है, उन्हें अपना पूरा ध्यान उस ओर लगा देना चाहिए लेकिन क्या देश

की परिस्थितियों का ज्ञान और उनके सुधार सोचने की योग्यता पैदा करना उस शिक्षा में शामिल नहीं? यदि नहीं तो हम उस शिक्षा को भी निकम्मी समझते हैं, जो सिर्फ क्लर्की करने के लिए ही हासिल की जाए। ऐसी शिक्षा की जरूरत ही क्या है? कुछ ज्यादा चालाक आदमी यह कहते हैं, 'काका तुम पॉलिटिक्स के अनुसार पढ़ो और सोचो जरूर, लेकिन कोई व्यावहारिक हिस्सा न लो। तुम अधिक योग्य होकर देश के लिए फायदेमंद साबित होगे।'

हमारी शिक्षा निकम्मी होती है और फिजूल होती है, और विद्यार्थी-युवा जगत अपने देश की बातों में कोई हिस्सा नहीं लेता। उन्हें इस संबंध में कोई भी ज्ञान नहीं होता। जब वे पढ़कर निकलते हैं तब उनमें से कुछ ही आगे पढ़ते हैं, लेकिन वे ऐसी कच्ची-कच्ची बातें करते हैं कि सुनकर स्वयं ही अफसोस कर बैठ जाने के सिवाय कोई चारा नहीं होता। जिन नौजवानों को कल देश की बागडोर हाथ में लेनी है, उन्हें आज अक्ल के अंधे बनाने की कोशिश की जा रही है। इससे जो परिणाम निकलेगा वह हमें खुद ही समझ लेना चाहिए।

बात बड़ी सुंदर लगती है, लेकिन हम इसे भी रद्द करते हैं, क्योंकि यह भी सिर्फ ऊपरी बात है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक दिन विद्यार्थी एक पुस्तक 'अपील टू द यंग, प्रिंस क्रोपोटकिन' पढ़ रहा था। एक प्रोफेसर साहब कहने लगे, 'यह कौन-सी पुस्तक है? और यह तो किसी बंगाली का नाम जान पड़ता है!' लड़का बोल पड़ा, 'प्रिंस क्रोपोटकिन का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। वे अर्थशास्त्र के विद्वान थे।' इस नाम से परिचित होना प्रत्येक प्रोफेसर के लिए बड़ा जरूरी था। प्रोफेसर की 'योग्यता' पर लड़का हंस भी पड़ा और उसने फिर कहा, 'ये रूसी सज्जन थे।' बस! 'रूसी!' कहर टूट पड़ा! प्रोफेसर ने कहा, 'तुम बोल्शेविक हो, क्योंकि तुम पॉलिटिकल पुस्तकें पढ़ते हो।' देखिए आप प्रोफेसर की योग्यता! अब उन बेचारे विद्यार्थियों को उनसे क्या सीखना है? ऐसी स्थिति में वे नौजवान क्या सीख सकते हैं?

दूसरी बात यह है कि व्यावहारिक राजनीति क्या होती

है? महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस का स्वागत करना और भाषण सुनना तो हुई व्यावहारिक राजनीति, पर कमीशन या वायसराय का स्वागत करना क्या हुआ? क्या वो पॉलिटिक्स का दूसरा पहलू नहीं? सरकारों और देशों के प्रबंध से संबंधित कोई भी बात पॉलिटिक्स के मैदान में ही गिनी जाएगी, तो फिर यह भी पॉलिटिक्स हुई कि नहीं? कहा जाएगा कि इससे सरकार खुश होती है और दूसरी से नाराज? फिर सवाल तो सरकार की खुशी या नाराजगी का हुआ। क्या विद्यार्थियों को जन्मते ही खुशामद का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए? हम तो समझते हैं कि जब तक हिंदुस्तान में विदेशी डाकू शासन कर रहे हैं तब तक वफादारी करने वाले वफादार नहीं, बल्कि गद्दार हैं, इंसान नहीं, पशु हैं, पेट के गुलाम हैं। तो हम किस तरह कहें कि विद्यार्थी वफादारी का पाठ पढ़ें?

सभी मानते हैं कि हिंदुस्तान को इस समय ऐसे देश-सेवकों की जरूरत है, जो तन-मन-धन देश पर अर्पित कर दें और पागलों की तरह सारी उम्र देश की आजादी के लिए न्योछावर कर दें। लेकिन क्या बुजुर्गों में ऐसे आदमी मिल सकेंगे? क्या परिवार और दुनियादारी के झंझटों में फंसे सयाने लोगों में से ऐसे लोग निकल सकेंगे? यह तो वही नौजवान निकल सकते हैं जो किन्हीं जंजालों में न

फंसे हों और जंजालों में पड़ने से पहले विद्यार्थी या नौजवान तभी सोच सकते हैं यदि उन्होंने कुछ व्यावहारिक ज्ञान भी हासिल किया हो। सिर्फ गणित और ज्योग्राफी को ही परीक्षा के पर्चों के लिए घोंटा न लगाया हो।

क्या इंग्लैंड के सभी विद्यार्थियों का कॉलेज छोड़कर जर्मनी के खिलाफ लड़ने के लिए निकल पड़ना पॉलिटिक्स नहीं थी? तब हमारे उपदेशक कहां थे जो उनसे कहते, जाओ, जाकर शिक्षा हासिल करो। आज नेशनल कॉलेज, अहमदाबाद के जो लड़के सत्याग्रह के बारदोली वालों की सहायता कर रहे हैं, क्या वे ऐसे ही मूर्ख रह जाएंगे? देखते हैं उनकी तुलना में पंजाब का विश्वविद्यालय कितने योग्य आदमी पैदा करता है? सभी देशों को आजाद करवाने वाले वहां के विद्यार्थी और नौजवान ही हुआ करते हैं। क्या हिंदुस्तान के नौजवान अलग-अलग रहकर अपना और अपने देश का अस्तित्व बचा पाएंगे? नौजवान 1919 में विद्यार्थियों पर किए गए अत्याचार भूल नहीं सकते। वे यह भी समझते हैं कि उन्हें क्रांति की जरूरत है। वे पढ़ें, जरूर पढ़ें, साथ ही पॉलिटिक्स का भी ज्ञान हासिल करें और जब जरूरत हो तो मैदान में कूद पड़ें और अपने जीवन को इसी काम में लगा दें। अपने प्राणों को इसी में उत्सर्ग कर दें। वरना बचने का कोई उपाय नजर नहीं आता।

‘पतरा’ नहीं ‘अंचरा’ का परब है छठ

पृष्ठ 19 का शेष

से पूछे लगले ना।’ और फिर सुग्गे का बयान सुन कर हृदय में हाहाकार उठा - ‘सुनी सुगना के बतिया पिया सुसुके लगले ना, सुनि के धनिया के हलिया पियवा सुसुके लगले ना...’

केले के घोंद पर मंडराते सुग्गे का अर्थ महेंदर मिसिर के इस गीत में गूंजते विरह और पलायन के भीतर अगर आपने नहीं पढ़ा, तो फिर निश्चित जानिए बीते दो सौ बरसों से हम पुरबिया लोगों के बीच छठ की बढ़ती आयी महिमा को पहचानने से आप वंचित रह जायेंगे। पारिवारिकता की कुंजी है दाम्पत्य और ‘पूरब के साकिनों’ के दाम्पत्य यानी पारिवारिकता पर पिछले पौने दो सौ बरसों से रेलगाड़ियां बैरन बन कर धड़धड़ा रही हैं। ‘पिया कलकतिया भेजे नाहीं पतिया’ नाम के शिकायती सुर के भीतर शहर कलकत्ते के हजार नये संस्करण निकले आये हैं। गौहाटी, नैहाटी, दिल्ली, नोएडा, गुड़गांव मुंबई, पुणे, चेन्नई, बंगलुरु कितने नाम गिनाएं। ये सब नगरों के नाम नहीं हमारे लिए हमेशा से ‘शहर कलकत्ता’ हैं - वणिज के देश! क्या होता है वणिज के देशों में जाकर? पूर्वांचल के गांवों में बड़े-बुजुर्ग कहते हैं- जिन पूत परदेसी भईलें, देव पितर, देह सबसे गईलें!

ऐसे में जो घर का उजाड़ है, वह छठ-घाट के उजाड़ के रूप में झांकने लगे, तो क्या अचरज! और, घर को कायम रखने का जो संकल्प है, वही छत्तीसों घंटे उपवास रह कर, भूमि को शैय्या बना कर, एक वस्त्र में हाड़ कंपाती ठंड में दीया जला कर छठी मईया से घर भर में गूंजने वाली किलकारी आशीर्वाद रूप में मांग बैठे, तो भी क्या अचरज! छठ के एक गीत में यों ही नहीं आया - ‘कोपी कोपी बोलेली छठी मईया, सुनी ए सेवक सब / मोरा घाटे दुबिया उपजी गईलें, मकड़ी बसेर लेले / हंसी हंसी बोलेनी महादेव / सुनी ए छठी मईया, मोरा गोदे दीहीं ना बलकवा / त दुभिया छिलाई देव, मकड़ी उजाड़ी देव, दूधवे अरघ देव।’

छठ पूरब के उजाड़ को थाम लेने का पर्व है, छठ चंदवा तानने और उस चंदवे के भीतर परिवार के चिरागों को नेह के आंचल की छाया देने का पर्व है। छठ ‘शहर कलकत्ता’ बसे बहंगीदार को गांव के घाट पर खींच लाने का पर्व है। छठ में आकाश का सूरज बहुत कम-कम है, मिट्टी का दीया बहुत-बहुत ज्यादा!

साभार : प्रभात खबर

साझी विरासत के प्रसार के दौरान मिले अच्छे अनुभव

■ तेजसिंह ठकुर

1) साझी विरासत के प्रचार-प्रसार का कार्य पिछले कुछ वर्षों से हिमाचल प्रदेश के सराज क्षेत्र में किया जा रहा है। इस दौरान यहां के कई क्षेत्रों में दौरा करने का तथा वहां के लोगों से रुबरु होने का मौका मिला और कई सुखद अनुभव भी प्राप्त हुए। पिछले वर्ष इस क्षेत्र में छात्रों एवं छात्राओं के साथ साझी विरासत पर मीटिंग की गयी। इस मीटिंग में अनेक मुद्दों पर उनसे चर्चा हुई। इस वर्ष जब दोबारा उनसे मिलने और उनके अनुभव साझा करने का अवसर मिला तो पाया कि उनके प्रयासों से उनके घर में और गांव में कई लोगों ने उनके सकारात्मक विचारों से प्रभावित होकर अपने व्यवहार में परिवर्तन लाया है। इस क्षेत्र के एक पिछड़े गांव में लड़कियों को पाठशाला में केवल खानापूति के लिए भेजा जाता था। और पितृसत्ता के प्रभाव के कारण उनके साथ उनके भाइयों की अपेक्षा बुरा व्यवहार किया जाता था। लेकिन जब उन लड़कियों को नकारात्मक साझी विरासत के बारे में बताया गया और उनके सम्मुख इस विषय पर उनके अभिभावकों से भी बातचीत की गयी तो उसके परिणाम चौंकाने वाले थे। पहले तो उनके अभिभावकों ने दबी जुबान में समाज को इसके लिए ज़िम्मेदार ठहराया लेकिन जब उनसे नकारात्मक साझी विरासत के विषय में सामूहिक बातचीत की गयी और उन्हें इसके परिणामों के बारे में बताया गया तो उन्होंने अपने रवैये पर खेद व्यक्त किया और साथ ही अपनी बेटियों को बराबर का अधिकार देने की बात को स्वीकारा तथा भविष्य में इस पर अमल करने का विश्वास दिलाया।

हाल ही में पाठशाला जाकर जब इन लड़कियों के बारे में अध्यापक से बातचीत की गयी तो यह ज्ञात हुआ कि पाठशाला में उनकी उपस्थिति में पहले की अपेक्षा बहुत सुधार हुआ है। यह भी ज्ञात हुआ कि उनके परिवारों में भी अब उनके साथ पहले की अपेक्षा काफी हद तक बराबरी का व्यवहार किया जाता है। लड़कियों ने बताया कि अब उन्हें भी भाइयों के समान खेलने और पढ़ने के लिए समय दिया जाता है तथा खिलौने वस्त्र एवं अन्य सामान भी लगभग उनके भाइयों जितने ही दिये जाते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि यदि हमारे समाज में इस प्रकार की अन्य मीटिंग की जाएं और नकारात्मक साझी विरासत के बारे में ज्यादा से ज्यादा लोगों को जागरूक किया जाए तो हमारे समाज में बहुत सुधार हो सकता है।

2) हमारे समाज में बाजीगर आमतौर पर तथाकथित निम्न जाति से संबंध रखते हैं और आर्थिक दृष्टि से भी वे बहुत कमज़ोर होते हैं। पहले समय में ये लोग यहां की प्रथा के अनुसार तथाकथित उच्च

जातियों द्वारा दिये जाने वाले अनाज आदि पर निर्भर होते थे। किसी भी घर में यदि कोई धार्मिक या सांस्कृतिक कार्यक्रम होता था तो यह लोग वहां जाकर पारंपरिक वाद्ययंत्रों को बजाने का कार्य करते थे। यह इनका पुश्तैनी कार्य है। समाज में इन्हें सबसे नीचे का दर्जा दिया जाता है और इन्हें किसी भी तरह का कोई निर्णय लेने का अधिकार नहीं होता। यह गैर-बराबरी का विषय था। अतः आईएसडी की पहल पर ग्राम पंचायत टील की देऊली ने वहां के कुछ बुद्धिजीवियों एवं देऊली की कार्यकारिणी ने मिलकर इन बाजीगरों को समाज में बराबरी का हक देने का निर्णय किया। देऊली की कार्यकारिणी सभा में इनकी जाति के प्रतिनिधि को शामिल किया गया। अब देऊली समाज में निर्णय सभी जातियों के प्रतिनिधियों द्वारा सामूहिक भागीदारी से लिए जाने लगे। बाजीगर जाति के प्रतिनिधि को कार्यकारिणी सभा में शामिल करने का एक लाभ यह हुआ कि अब इनके लिए एक नियत पारिश्रमिक तय किया गया। यह पारिश्रमिक बाजा बजाने वालों में बराबर बांटने का फैसला हुआ। साथ ही यह भी तय किया गया कि यदि इन्हें बाजा बजाने के लिए अपनी देऊली क्षेत्र से बाहर जाना पड़े तो उनको दैनिक वेतन के तौर पर अलग पैसे दिये जाएंगे। और इनके रहन-सहन की भी समुचित व्यवस्था की जाएगी।

आईएसडी द्वारा साझी विरासत कार्यशाला आयोजित की गयी जिसमें पारंपरिक वाद्ययंत्रों को बजाने का प्रशिक्षण तथाकथित उच्च जाति के लोगों को भी दिया गया। इस कार्यशाला का समाज के लोगों पर सकारात्मक प्रभाव हुआ। अब कुछ तथाकथित उच्च जाति के नौजवान भी इन बाजीगरों के साथ मिलकर इन वाद्ययंत्रों को बजाते हैं तथा इन्हें भी देऊली समाज से पारिश्रमिक दिया जाता है। इस कार्य से एक समानता की बात झलकती है। यहां के तीन नौजवान चमनलाल, जगदीश चंद्र व रामकृष्ण जो कि तथाकथित उच्च जाति से संबंधित हैं अब इन बाजीगरों के साथ प्रत्येक सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम में वाद्ययंत्र बजाते हैं और उनका सम्मान भी करते हैं। इससे जहां एक ओर समाज में समानता एवं एकता को बल मिला है वहीं दूसरी ओर इन बाजीगर जाति के लोगों में आत्मसम्मान का बोध भी हुआ है। रामकृष्ण तो अब खुलकर बाजीगर समाज के हक व अधिकारों की बात करता है।

इन सुखद अनुभवों से इस बात की अनुभूति होती है कि साझी विरासत का कार्य इस क्षेत्र में सही दिशा की ओर अग्रसर है।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

प्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए